भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321–5704
(वर्ष-10, अंक-9, जनवरी, 2023)

संरक्षक
कुलपति, प्रो. नीलिमा गुप्ता

परामर्शदाता
कुलसचिव, श्री संतोष सोहगौरा

सम्पादक मण्डल
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
श्री संतोष सोहगौरा
डॉ. शशिकुमार सिंह
डॉ. नीरज उपाध्याय
डॉ. पंकज सिंह
डॉ. आफरीन खान

सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक
अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश)–470003
दूरभाष : (07582) 297118
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका
ISSN 2321 – 5704
वर्ष 10, अंक 9
जनवरी, 2023

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :
हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)—470003

दूरभाष : (07582) 297118
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से
सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन
विनोद रजक
मुद्रण
तेजस मोमेंटो एवं गिफ्ट हाऊस
सरस्वती वाचनालय, गौर मूर्ति, तीनबत्ती, सागर

प्रो. नीलिमा गुप्ता
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

'भाषा भारती' के नौवें अंक के प्रकाशन की आप सभी को शुभकामनाएँ! भारत एक बहुभाषी देश है जहाँ विभिन्न राज्यों में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। हमारी सभी भाषाएँ और बोलियाँ हमारी धरोहर हैं और इन्हें बढ़ावा देना हर भारतीय का कर्त्तव्य है। किसी भी देश की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में उस देश की भाषा का अहम योगदान होता है। कोई भी भाषा या बोली सिर्फ विचारों की वाहिका ही नहीं होती, अपितु राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता व संस्कारों के निर्माण का महत्वपूर्ण साधन भी होती है।

हिन्दी का विकास देश की क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ हुआ है। देश की सभी भाषाओं में भारतीय संस्कृति की सजीव झलक परिलक्षित होती है। हिन्दी सहित अन्य सभी क्षेत्रीय भाषाएं देशवासियों को विरासत में मिली हैं। देश में बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषाएं तथा उनका सांस्कृतिक वैभव एक ओर जहाँ देश की पहचान है, वहीं दूसरी ओर सभी भाषाओं का गौरवशाली इतिहास और समृद्धि साहित्य है। किन्तु पूरे भारत को एक सूत्र में पिरोने का काम हिन्दी ने सफलतापूर्वक किया है। भारत में सबसे अधिक बोली जाने वाली हिन्दी एक वैज्ञानिक भाषा है। हिन्दी की विशेषताओं और लोकप्रियता को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान सभा ने आपसी सहमति से हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा का दर्जा दिया।

उल्लेखनीय है कि जब 'आजादी का अमृत महोत्सव' पूरे देश में जन-भागीदारी के माध्यम से मनाया जा रहा है। इस अमृत महोत्सव के पावन अवसर पर हिन्दी का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय के सदस्य और उससे भी बढ़कर भारत का नागरिक होने के नाते संविधान द्वारा राजभाषा का दर्जा प्राप्त 'हिन्दी' भाषा के प्रचार-प्रसार का नैतिक दायित्व हम सबका है।

हम सब मिलकर हिन्दी की प्रगामी प्रगति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहें ऐसी मेरी कामना है।

नीलिमा गुप्ता

(प्रो. नीलिमा गुप्ता)

संतोष सोहगौरा
कुलसचिव (प्र.)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

'भाषा भारती' नौवें अंक के प्रकाशन की आप सबको हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ।

भारत विभिन्नताओं का देश है जिसमें बहुत-सी भाषाएँ प्रचलन में हैं। सरकार को लोगों से जोड़ने के लिए सरकारी कार्य को ऐसी भाषा में करने की आवश्यकता है जो कि आम जन-मानस से जुड़ी हो। इस कसौटी पर भारत में सर्वाधिक प्रचलित हिंदी भाषा खरी उतरती है और इसीलिए हिंदी को राजभाषा का गौरवमयी स्थान प्रदान किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जनता की भाषा में सरकारी काम-काज करने से विकास की गति तेज होगी और प्रशासन में पारदर्शिता आएगी।

भाषा के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ योगदान अवश्य रहता है। इस संबंध में इमरसन का कथन है कि ''भाषा वह नगर है जिसे खड़ा करने में हर व्यक्ति ने कोई न कोई पत्थर लगाया है।'' भाषा भाव और विचारों का माध्यम मात्र नहीं है बल्कि यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सुदृढ़ और जीवंत बनाने का सर्वमान्य, सशक्त साधन भी है। सशक्त भाषा केवल व्यक्ति का विकास ही नहीं करती, अपितु राष्ट्र के विकास में भी सहायक होती है। गौरतलब है कि भारत सरकार भी देश ही नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु निरन्तर प्रयत्नशील है तथा 15-16 फरवरी, 2023 को पैसेफिक देश फिजी में '12वें विश्व हिन्दी सम्मेलन' का आयोजन कर रही है।

ऐसे में राजभाषा हिन्दी को समृद्ध, व्यापक और लोकप्रिय बनाने के लिए हम सबका सक्रिय योगदान बहुत आवश्यक है और केन्द्रीय विश्वविद्यालय होने के नाते हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम स्वयं प्रेरित होकर अपने कार्यालयी कामकाज में हिन्दी को प्राथमिकता दें।

और अन्त में, माननीय कुलपति महोदया के मार्गदर्शन में 'भाषा भारती' के सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक अंक के प्रकाशन हेतु सम्पादक मण्डल, उससे जुड़े सभी सहयोगियों तथा राजभाषा प्रकोष्ठ को कोटिशः साधुवाद।

शुभकामनाओं के साथ,

'हिन्दी हमारे राष्ट्र की अभिव्यक्ति का सरलतम स्त्रोत है - सुमित्रानंदन पंत'

(संतोष सोहगौरा)

अनुक्रमणिका

कुलपति का संदेश

कुलसचिव का संदेश

राजभाषा और राष्ट्रभाषा *नन्ददुलारे वाजपेयी*	09
राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ *प्रेमचन्द*	13
हमारा देश और राष्ट्रभाषा *महादेवी वर्मा*	25
भारतीय भाषाओं का भविष्य *शंभुनाथ*	32
हिन्दी के विश्वभाषा रूप में उन्नयन की सम्भावनाएँ *यशदेव शल्य*	42
भाषा, हिन्दी और हम *आर.बी. भण्डारकर*	47
राष्ट्रभाषा और महात्मा गांधी *श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्यय*	57
भाषा संस्कृति और वैश्विक हिन्दी *छबिल कुमार मेहेर*	69
हिन्दी की समस्याएँ *नगेन्द्र*	77
गाँधीजी की राष्ट्रभाषा दृष्टि *विजय बहादुर सिंह*	87

राजभाषा हिन्दी व भाषायी अस्मिता का यथार्थ 91
पुष्पेंद्रकुमार शर्मा

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि 99
अजय कुमार पटनायक

राष्ट्रीय शिक्षा नीति : चिन्तन और चुनौतियाँ 104
ब्रजरतन जोशी

आखिरी सबक 110
नवीन कानगो

शिकागो विश्व धर्म संसद और वीरचंद्र राघव जी गांधी 115
अभय सिंघई

परिशिष्ट–1 :

कुछ ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के बारे में 118

परिशिष्ट–2 :

कुछ चित्र : कुछ यादें 119

●●●

राजभाषा और राष्ट्रभाषा

—नन्ददुलारे वाजपेयी

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि आप सबको, जो यहाँ सैकड़ों की संख्या में उपस्थित हैं, हिन्दी आती है। आप लोगों में सभी का हिन्दी का समझना मेरे लिए अपार हर्ष का विषय है। मैं हिन्दी के कार्य से देश के विभिन्न भागों में जाया करता हूँ और वहाँ की गतिविधि से प्रायः परिचित हूँ। परन्तु इतने सुदूर दक्षिण प्रदेश में हम देखते हैं कि हिन्दी विषय दसवें दर्जे तक अनिवार्य विषय बना है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ के अधिकारी, कार्यकर्तागण राजनीति के साथ ही, शैक्षणिक विषयों पर भी अधिक ध्यान रखते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्य तो करते ही हैं, पर देश के भविष्य के सम्बन्ध में भी उदासीन नहीं हैं। सभी देशों में जनता को महत्त्वपूर्ण तथा साधारण कार्य के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस देश में विभिन्न प्रकार के भाषा-भाषी न होते और देश का विस्तार अधिक न होता तो एक या दो भाषाओं से काम चल सकता था। सम्भव यह भी था कि मध्यवर्तिनी या केन्द्रीय भाषा की आवश्यकता ही न पड़ती। पर भारतवर्ष एक बड़ा देश है। इसके विभिन्न भागों में कुल मिलाकर चौदह बड़ी भाषाएँ प्रचलित हैं। इस विभिन्नता में सर्वसाधारण को आपस में कार्य करने और एक-दूसरे को समझने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है। इस प्रदेश में इसकी तैयारी पहले से ही है। आपको इस कार्य के लिए मैं बधाई देता हूँ। साथ ही, मेरी यह अभिलाषा है कि इस प्रदेश के अनुकरण पर दूसरे प्रदेशों में भी ऐसी ही परम्परा बन जाए।

प्रश्न उठता है और आप भी यह पूछ सकते हैं कि हिन्दी को ही अन्तर्प्रदेशीय भाषा क्यों बनाया जाए? क्या अन्य भाषाओं में यह योग्यता नहीं है? क्या उन्हें राजभाषा का पद नहीं दिया जा सकता? मित्रों! किसी भी भाषा को राजभाषा का पद देने के पूर्व हमें सोचना होगा कि उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं, उसके साथ उसको बोलने और समझने वालों की संख्या की भी गणना करनी पड़ेगी। हिन्दी को जो राजभाषा बनने का सौभाग्य मिला है, यह उसका अपना महत्त्व है। उन्नीस करोड़ आदमी इसे व्यवहार में लाते हैं। इतने आदमी इसे क्यों बोलते हैं? जिस भाषा को जितने अधिक लोग बोलते हों, उतना ही उसका राष्ट्रीय महत्त्व मानना होगा। हिन्दी का करीब एक हजार वर्षों का साहित्य है, जिसमें सूर, तुलसी, मीरा और भारतेन्दु से लेकर

आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों की बहुमूल्य निधियाँ मौजूद हैं। गद्य-लेखन का कार्य भी काफी हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की अपनी परम्परा है जो राष्ट्र के जीवन के समस्त संघर्षों से जुड़ी हुई है। वह इतिहास की दृष्टि से भी केन्द्र की भाषा है। इसलिए यदि इसको 'राजभाषा' बनाने का प्रस्ताव है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमें यहाँ पर राजभाषा और राष्ट्रभाषा के अन्तर को समझना आवश्यक है। राजभाषा उसे कहते हैं जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा पत्र-व्यवहार, राज्य-कार्य और अन्य सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में लाई जाए। राष्ट्रभाषा की कल्पना इससे भिन्न है। उसका पद और भी बड़ा है। उसी भाषा का गौरव सबसे अधिक हो सकता है और वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है जिसको सब जनता समझती हो और जिसका अस्तित्व सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो।

सरकार की नीति हिन्दी को राजभाषा बनाने की है परंतु सरकारी कार्य सीमित भूमि पर ही होते हैं। भारतीय संविधान में हिन्दी को 'ऑफीशियल लैंग्वेज' बनाने का निर्देश है। इस राजभाषा पर जोर देकर मैं यहाँ कोई सरकारी प्रचार करने नहीं आया हूँ। मैं आपसे राजभाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की बात करने आया हूँ। इस सम्बन्ध में राज्य-सरकारों ने भी नियम नहीं बनाए हैं। पर मित्रों, आज राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उपयोगिता है। साथ ही, यह आज की आवश्यकता भी है। आज आप यहीं हैं, पर कल देश के दूसरे भागों में भी आपके जाने की संभावना की जा सकती है। सम्पूर्ण कार्य आपके यहीं पर, एक ही स्थान पर नहीं हो सकते। आपको नौकरी, व्यापार, तीर्थाटन अथवा अन्यान्य कार्यों के सम्बन्ध में देश में भ्रमण करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति सारी जिंदगी घर पर नहीं रह सकता। उसे उत्तर या दक्षिण, पूर्व या पश्चिम, कहीं न कहीं जाना ही पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन घर पर व्यतीत करे तो उसे कदाचित् राष्ट्रभाषा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, पर वर्तमान युग ने अपने देश के विभिन्न भागों की दूरी बहुत कम कर दी है। यहीं पर यदि अध्यापन की जगह खाली होती है तो सारे देश के लोग अपने आवेदन-पत्र भेजते हैं। सारे देश के लोगों में से चुनाव होता है। वास्तविक भारतीय प्रजातंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब ऐसा हो। लोग यदि प्रान्तीय आधारों पर रहते हैं तो उनकी सार्वत्रिक कमजोरियाँ ही बढ़ती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि भाषा पर ध्यान दिया जाए। एक सामान्य भाषा-व्यवस्था होनी ही चाहिए, जिसके द्वारा सरकारी नौकरियों में और विभिन्न स्थानों में रहने वाले व्यक्तियों को सुविधा हो। भारत सरीखे देश में यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि एक सामान्य भाषा हो। हमारा संविधान भी इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन करता है। यदि भारतीय संविधान ऐसा होता कि प्रत्येक प्रदेश को अलग-अलग अधिकार दे दिए होते तो कदाचित् आप कह सकते थे कि दिल्ली वाले को पंजाब की भाषा सीखने की आवश्यकता नहीं है। परंतु संविधान में भारत एक इकाई है। कश्मीर से

लेकर कन्याकुमारी तक लोगों के समान अधिकार हैं। इस रूप में उन्हें अपने अधिकार का प्रयोग करना चाहिए।

किसी भाषा को स्वीकार करना या न करना अब व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं की बात है। क्या जबर्दस्ती किसी से कोई भाषा सीखने को कहा जा सकता है? क्या किसी भी दृष्टि में ऐसा उपयुक्त होगा? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि हिन्दी के किसी भी हिमायती का यह लक्ष्य कदापि नहीं है कि किसी की इच्छा के विरुद्ध वह यह कार्य करे। आज से दो सौ वर्ष पूर्व अँग्रेजी जिस प्रकार हमारे गले से नीचे उतारी गई, क्या उस रूप में हिन्दी भी हमारे ऊपर लादी जाए? मैं इसका विरोध करता हूँ। इस प्रजातंत्र में हिन्दी आपकी सेविका है। यह भाषा जनता को बल देने वाली तो है ही, साथ ही, एकता के सूत्र में बांधने वाली भी है। आप यह कह सकते हैं कि अँग्रेजी भी तो थी। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि डेढ़-दो सौ वर्षों में मुश्किल से एक प्रतिशत से भी कम जनता अँग्रेजी जान पाई है। अँग्रेजी की इस स्थिति के रहते उसे राष्ट्रीय भाषा नहीं बनाया जा सकता। इस देश की संस्कृति, रीति-नीति, जन-जीवन विभिन्न प्रान्तों में सब एक ही प्रकार का है। केरल और अन्य प्रदेशों में कई बातों में समता है विचारों से लेकर जीवनचर्या तक में बहुत कुछ साम्य है। परंतु सामान्य भाषा-हिन्दी भाषा की जानकारी न होने से सर्वत्र विभिन्नता ही दीखती है। इस विभिन्नता को हटाकर यदि हमें पूर्ण एकता को स्थापित करना है तो यह आवश्यक है कि हमारे देश की एक सामान्य भाषा हो। सच्चे प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक होगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाए। सच्चे अर्थ में हम तभी एक राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण कर सकेंगे।

राष्ट्र को शक्ति देने के लिए हमें आपसी दूरी और विभेद दूर करने होंगे और यह कार्य एक सामान्य भाषा के द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी इसके लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। राष्ट्र एक शरीर और एक प्राण के रूप में भलीभाँति तभी कार्य कर सकता है, जब उसमें रहने वाले निवासियों को यह अनुभव हो कि वे एक राष्ट्र के व्यक्ति हैं। इस दृष्टि से देश में एक भाषा होनी ही चाहिए। ऐसी भाषा को सीखने के लिए समय का प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता कि इतने समय में यह सबको आ ही जाए। इसमें जनता का मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्र की उन्नति और सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि वे हिन्दी जैसी भाषा सीखें। हिन्दी के प्रसार में जितनी चीज़ें उपस्थित की गई हैं, वे सब वैकल्पिक हैं। उनका किसी पर किसी प्रकार आरोपण नहीं है। यदि जनता में राष्ट्रीय भावना है तो सबकी स्वेच्छा से ही यह सामान्य भाषा की कमी पूर्ण हो सकती है। एक बार हमारा झुकाव इस ओर हो जाए तो राष्ट्रभाषा के बनने में देर न लगे।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी का श्रीगणेश यहाँ पर पहले से ही हो गया है। कल जब मैं यहाँ आया और कुछ समय के लिए श्री विश्वनाथ अय्यर के यहाँ ठहरा तो

भाषा की विभिन्नता के कारण उनके बच्चों से बात न कर सका, यद्यपि बच्चों में आगंतुक के प्रति स्नेह की भावना थी। उनेक कार्य भी उसी प्रकार के थे। पर न तो वे हिन्दी समझ सकते थे और न मैं मलयालम। इस प्रकार भाषा की बाधा से स्नेहसूत्र में व्याघात हुआ। यह केवल बालकों से मिलने की बाधा नहीं है, वरन् हमें अपने ही देश में अपने ही लोगों से अपरिचित रहना पड़ता है। ऐसे अनेक व्याघातों को दूर करने के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया जा सकता है? निश्चय ही हिन्दी एक ऐसा साधन है जिससे ये व्यवधान ही नहीं, देश के सारे विभेद भी दूर किए जा सकते हैं।

मार आइवानिस कॉलेज, त्रिवेंद्रम की हिन्दी साहित्य-सभा का उद्घाटन-भाषण,
नन्द दुलारे वाजपेयी रचनावली : 6 (सं. विजय बहादुर सिंह) से साभार

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

—प्रेमचन्द

प्यारे मित्रों,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज़ दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाकत नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुज़रिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ!

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख़्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, ख़ासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीज़ा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमागों ने अंग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं; वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगे उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों

ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्रभाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायेगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नज़र आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ़ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदख़ाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमाने मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है। अंग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये; उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़-फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उसमें उड़ने की शक्ति नहीं रही; वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रों, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से बिदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धिबल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिये कि वह समझते हैं—मेरी चौखट

के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोलचाल उनकी वेश-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिये कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटरयुनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृभाषा क्यों न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिए कि अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे गलती तो नहीं हो गयी! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं; लेकिन बड़े भारतीय-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियाँ करते हैं। और यह नतीज़ा है कम से कम बारह साल तक आँखे फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम ज़रूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं, लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम से कम जहाँ तक व्यापार में उनका सम्बन्ध है; उन्होंने कौमियत की रक्षा की है।

मित्रों, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्रभावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गयी थी। अंग्रेजी राज

ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज बिदा हो जाय— और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है— तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायेगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्रभाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्रभाषा के भिक्षु है, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालने वाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन-मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो; लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्रभाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में लोगों की काफ़ी तादाद निकल आये तो, जो ईश्वर का 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्रभाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों पर ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर ही हो सकता है। बोलचाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और

पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है । इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टर पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसर और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से भी वे लोग उतने ही बेजार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ के मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है—हालाँकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है— और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालों के लिए यहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज़ करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की

गर्जनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का ज़ौक रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ; इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है, और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इंगलैंडवाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न काफिये में आती है न रदीफ में, न बहर में न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाए, तो बेशक यहाँ की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता? हमें दोनों भाषाओं में एक आम लुग़त (कोष) की जरूरत है, जिसमें आमफहम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी में तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना चाहिए। शायद वह कौम कौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफ़हम शब्दों से भी परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफ़हम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्रभाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य में केवल इतने

ही विषय तो नहीं है। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो है जिनको आप राष्ट्रभाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचानात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्रभाषा सर्वांगपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं हैं। जो राष्ट्रभाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्त्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्रभाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायेंगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ से आँखे बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेजी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अंग्रेजीदाँ

ही नहीं रहते। हजार में 999 आदमी अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्रभाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज प्राप्त कर सके। ग़ैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हजरत उस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्रभाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल ज़रूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अंग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ़ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अंग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अंग्रेजी के सामने

हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम ज़रूरत से ज़्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेजों की गुलामी करने की ज़रूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊँची शिक्षा राष्ट्रभाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्रभाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थीयों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज पर कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु को उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करें? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्रभाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्रभाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अंग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक दो कालम नियमित रूप से राष्ट्रभाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति

से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जाएगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज़ करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े से बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज' 'मिलिन्द', 'नवीन', पं. माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायेंगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें

तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफ़ीना भी त्रिपाठीजी ने खोद कर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइये और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी को लगायी हुई पुष्पवाटिकाओं की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्रभाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी.पी. श्रीवास्तव के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रंग में कमाल कर गये हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जाएगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', विशेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसैन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्रभाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी कलम में दिल को हिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आयी हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रों, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाज़िम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पश्चिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अन्तर है, तो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे

उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू.पी. में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्यास का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं—कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नज़र आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एकाएक सेना नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

(दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, 29 दिसम्बर, 1934 ई. को दिया गया दीक्षान्त भाषण।)

—'साहित्य का उद्देश्य' से साभार

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

—महादेवी वर्मा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकाश और आत्मा दोनों दृष्टियों से महान् और सुंदर है। उसका बाह्य सौंदर्य विविधता की सामंजस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे साँवले भरे मेघ हो, चाहे लपटों में साँस लेता हुआ बवंडर हो, सब अपनी भिन्नता में भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना संपूर्ण देव-विग्रह को खंडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का संग्रह-मात्र रह जाता। परंतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अंतरात्मा को एक रसमयता में प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बँध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आंतरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती और एक दूसरी से संयमित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खंड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, संपर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत् अंतर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनंत विकास-क्रम में बँधकर ही एक विशेष भूमंडल में स्पंदित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है, न शून्य में स्थिति रखनेवाले मानवों की भीड़ मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट

संकल्प-स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं, परंतु उनके संस्कारों का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है; परंतु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही संभव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का संस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है परंतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसकी आँधियों से लोहा लेने वाला तना, मंद वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ, चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एक रूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर बँट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर पास के अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केंद्र बिंदु को छू कर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्वतः एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी एक ही हैं।

जहाँ तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कंठ और कठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्कों से नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुतः भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भूभाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ इस समूह के जीवन, सुख-दुख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अतः भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बँधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की

आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएँ हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दों की संख्या अधिक नहीं होती परंतु जब हम अपने भाव-जगत् विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं, तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के गहरे रंग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को औक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलनेवाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, संकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाए रहता है, इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों सीमाएँ छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अतः वह भी अनेक संकेतों और व्यंजनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अंधकार के अनेक युग पार किए हैं। परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमें अनेक विचारधाराएँ समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आंतरिक रूपों में उत्सगत विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परंतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिंतन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता; परंतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तक बहु भाषा-भाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आँधी तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक संपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कंपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मंद समीर के समान साँस में समा कर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने संपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नहीं अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी

विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मान कर तो चिकित्सा संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न साध्य है, क्योंकि शरीर को बाँधनेवाली शृंखला से आत्मा को जकड़नेवाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं हैय पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूर तक होता जा रहा है। विवाद जब तक की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कहीं न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूर कर एक देश को दूसरे के पास पहुँचा दिया है, जब अणुबम की अंतक छाया में भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर सिर उठा रहे हैं, तब हम अपने मनों की दूरी बढ़ा कर, संदेह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोल कर अपनी महान परंपराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुंदर स्वप्न अनेक सुंदर स्वप्नों में समा कर जीवन को विराट् सौंदर्य देता है, एक शिव संकल्प अनेक शिव संकल्पों में लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिल कर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिल कर जीवन को विरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पंक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रह कर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जाएँगे।

जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पल कर बड़ी हुई है। अवधी, बृज, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखंडी आदि उसकी धूल में खेलनेवाली चिर सहचरियाँ हैं। इनके साथ कछार और खेतों, मचान और झोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में घूमघूम कर उसने उजले आँसू और रंगीन हँसी का संबल पाया है।

साधकों ने अपने कमंडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्यवाद का स्वर्ण

मुकुट न इसकी धूल-धूसरित उन्मुक्त अलकों को बाँध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नहीं देगा !

जब राजतंत्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतंत्र के युग में उसके लिए प्रसाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरों की परिकल्पना।

हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोष में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियों तथा देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में न कभी संकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया। परंतु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगही भाषी है, कोई मथुरा का ब्रजभाषी। परंतु बुंदेलखंडी बोलनेवाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, वैसवाड़ी बोलनेवाले कविवर निराला और कुमाऊँनी बोलनेवाले श्री सुमित्रनंदन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं कहे जाते! यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो इसका कारण हिंदी का वह संश्लिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्व नहीं पाती।

अंग्रेजी भाषा-भाषी विश्व भर में फैले हैं, उनमें देशज संस्कार भी हैं, परंतु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है और न उसे नए नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है; पर परिवर्तन में अंतर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु से वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है; परंतु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्य रहकर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल संकेत-लिपि नहीं है, प्रत्युत् उसके हर शब्द के पीछे संकेतित वस्तु स्पंदित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह कुंभकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नए लक्ष्य से जोड़ कर हम उसके अप्रत्यक्ष, आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, इसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नए भाव, नई वस्तु, नए विचार जोड़ कर हम उसे नए रूपों से समृद्ध करते रहते हैं। हिंदी का प्राकृत

से ब्रज-अवधी तथा उनसे खड़ी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है, उतना ही अनायास, क्योंकि जिस लोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का सा संबंध था, जिसमें एक दे कर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नहीं बन सकती, उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती ।

यह आकस्मिक संयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिंदी के भावी कर्त्तव्य को जिन्होंने पहले पहचाना वे हिंदी भाषा भाषी नहीं थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाएगी, क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है न गंतव्य। वस्तुतः संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है। एक तो आंतरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नहीं है, क्योंकि दीर्घकाल से वह संत-साधकों की मर्मबानी बन कर ही नहीं, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खंडित और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माँजा और खरादा है कि उसे किसी बड़ी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी संगति बैठा लेगी; परंतु तत्संबंधी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुंठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरुह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का संदेश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएँ दुर्लघ्य कैसे मानी जा सकती हैं।

स्वतंत्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तंत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते; परंतु हमारे पथ की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतंत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अंधकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पैठ सके ऐसा कोई बाण अँधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कंप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा की सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता

की स्वानुभूति है। हम जब साहित्य के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर, समुद्रों पर सेतु बाँध कर, दुर्लंघ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दुःख-कथा मनुष्य तक अनायास पहुँचा देते हैं।

अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिह्न अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भंग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनंत युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वंदेमातरम् तक एक, अखंड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोंच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कंठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका संदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बन कर निःशेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर अनंत स्वप्न-संकल्पों में फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के धरातल पर संत रविदास और भक्त सूरदास पग मिला कर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कंधा मिला कर खड़े हुए हैं।

जहाँ सम्प्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर गल गई, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी !

साभार : महादेवी संचयिता

भारतीय भाषाओं का भविष्य

—शंभुनाथ

पहले भी भारत की भाषा-समस्या और हिन्दी की स्थिति पर काफी रोचक बहस हो चुकी है। इसके बावजूद, नए सिरे से बहस की जरूरत है, क्योंकि इधर कुछ नए दबाव पैदा हुए हैं। इन नए दबावों में भूमंडलीकरण प्रमुख है। इसने व्यापार और मीडिया ही नहीं, भाषा के संसार को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। नतीजन भाषा से संबंधित सवाल पुरानी जगह से एक बिल्कुल नई जगह पर आ गए हैं। अब हिन्दी-उर्दू विवाद है, कम से कम इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के निकट नहीं है। जातीय विकास से भाषा के विकास का संबंध है या नहीं, यह बता पाना नए परिदृश्य में अब कठिन है। 'विकास' जातीयता और जातीय भाषा से एक बिल्कुल स्वतंत्र मामला बनता जा रहा है। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा बनेगी, यह बात अब सिर्फ कुछ लोगों के भोले स्वप्न में है। राजभाषा में सरकारी कामकाज बढ़ाना अब किसी की मुख्य चिंता में शामिल नहीं है। संविधान की आठवीं अनुसूची में राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी सहित कई अन्य भाषाओं को भी दर्ज करना चाहिए या नहीं, यह और ऐसे बहुत से सवाल अब भूमंडलीकरण के आगे निरर्थक हो चुके हैं।

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के सामाजिक असर ने हिन्दी ही नहीं, तमाम भारतीय भाषाओं के भविष्य को एक सर्द अंधकार में भेज दिया है। विश्व बाजार, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और स्वाधीनता आंदोलन के दौर से काफी भिन्न किस्म की राजनीति ने सिर्फ हिन्दी नहीं, सभी भारतीय भाषाओं को जड़हीन करने की शुरुआत कर दी है। हमारी भाषाएँ उनके खेल का हिस्सा बनती जा रही हैं, अपनी स्वायत्त जातीय दुनिया का लगातार आत्मविसर्जन करती हुईं। भारत के लोग विकास की नई अवधारणाओं की ओर बढ़ते हुए, भाषा के संदर्भ में जिस तेजी से औपनिवेशिक मानसिकता से पुनः आक्रांत हो रहे हैं और अपनी मातृभाषा को हेय नज़रों से देखने लगे हैं, स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण भारतीय सांस्कृतिक पहचानों के साथ-साथ भाषाओं को भी निगलने लगा है। इसलिए आज मुकाबला हिन्दी बनाम तमिल, हिन्दी बनाम मैथिली और यहाँ तक कि महज अंग्रेजी बनाम हिन्दी का न होकर भूमंडलीकरण बनाम भारतीय भाषाओं के बीच है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी सबसे ज्यादा बोली, समझी और पढ़ी जाने वाली भाषा है। अतः हिन्दी को ही न केवल उसका सबसे ज्यादा हमला झेलना पड़ेगा, बल्कि पलट कर जवाब भी देना होगा।

यह भूमंडलीकरण का बड़ा असर है कि उससे उत्साहित होकर अश्लीलतावादी लेखक खुशवंत सिंह रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर अपमानजनक टिप्पणी करते हैं। वे हिन्दी को इसलिए दरिद्र भाषा कहते हैं कि इसमें 'माउस' और 'रैट' के लिए अलग-अलग शब्द नहीं है। शोभा डे भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय रचनाकर हो जातील हैं। 'स्टेट्समैन' जैसे पश्चिमपरस्त अखबारों का स्वाध ीनता-पूर्व का हिन्दी-विरोधी मुहिम तेज हो जाता है। अंग्रेजी दां वर्ग को अचानक लगने लगता है कि एकमात्र वही अर्थात् अंग्रेजीभाषी शहरी मध्य वर्ग ही भारत के आधुनिक और प्रगतिशील मानस का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। जैसे उसी ने जाति, धर्म और क्षेत्र का अतिक्रमण करके देश को जोड़ रखा है। टिटिहरियों को कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि पूरा आसमान उन्हीं के सहारे टिका है। यह भूमंडलीकरण के ही बौद्धिक प्रवक्ताओं का तर्क है कि हिन्दी भाषी प्रदेश अंग्रेजी का प्रयोग करने के मामलों में पीछे हैं, इसीलिए सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी पिछड़े हैं। घुमाफिरा कर नए सिरे से स्थापित किया जा रहा है कि आधुनिकता और अंग्रेजी में, प्रगति और अंग्रेजी में तथा भूमंडलीकरण और अंग्रेजी में सीधा संबंध है।

भारत के शिक्षित वर्ग की औपनिवेशिक मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए काफी पहले सियाराम शरण गुप्त ने लिखा था, ''यह बात गलत है कि पलासी की लड़ाई में थोड़े से अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान जीता। उस दिन उनकी जीत अवश्य हुई, परन्तु वह जीत हिन्दुस्तान की पराजय नहीं थी। जिस दिन और जिस तरह निश्चित रूप से हमारी हार हुई, उसका उल्लेख हमारे स्कूल के इतिहास में नहीं मिलता। इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना बाह्य क्षेत्र में घटित ही नहीं हुई। इसका मुख्य क्षेत्र हमारा मस्तिष्क और हृदय था।...हमारे इस आभ्यंतर की विजय विजेता की भाषा द्वारा ही संभव थी।'' 21वीं सदी की देहरी पर भी वही अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त वर्ग है। वह विकासशील भारत पर बौद्धिक उपनिवेशवाद की दुबारा जीत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। वह अपने अंग्रेजी दां विशिष्ट वर्ग के हितों और चिंताओं के अनुरूप ही जीवन और भाषा का दर्शन गढ़ रहा है।

भूमंडलीकरण के प्रति आलोचनात्मक रुख के बावजूद, बड़ी संख्या में लोग एक बार फिर अपनी राष्ट्रीय जीवन शैली और अपनी भाषा से उदासीन होते जा रहे हैं। यह प्रक्रिया अकस्मात शुरू नहीं हुई है। 20वीं सदी के शुरू के दशकों से ही यह प्रक्रिया जारी है। उन दिनों नवजागरण के महान आदर्शों से विच्छिन्न होना शुरू कर चुके एक विशिष्ट शिक्षित वर्ग की संवेदनहीनता पर टिप्पणी करते हुए सियाराम शरण गुप्त ने आगे लिखा था, ''कितना उपद्रव, कितना उत्पात, कितनी संहार-क्रीड़ा आज हमें देखनी पड़ती है, इसका लेखा लगाने कौन जाए। यह सब देखकर न तो हमारा हृदय कांपता है और न हमें दया ही आती है। आती भी है तो किसी टकसाल में ढली हुई चीजों की भांति बनावटी और कामचलाऊ। ग्रामोफोन की चूड़ी की तरह क्षण भर गाकर हमारी करुणा चुप हो जाती है।'' लगता है कोई मानो हमारे अपने युग के यांत्रिक और स्वार्थी बुद्धिजीवियों पर टिप्पणी कर रहा है।

व्यापारिक विकास ने कभी भाषा पर बड़ा ही सकारात्मक प्रभाव डाला था। इसने देसी बाजारों को जोड़कर जनपदीय दीवारें तोड़ दी थीं। फलतः राष्ट्रीय भाषाएँ आकार पाने लगी थीं। भाषा में आ रहा यह विकास तब आम जनता के हितों और चिंताओं के अनुरूप था। बाजार आज हिन्दी को खा-चबा रहा हो, पर कभी उसी ने हिन्दी को जन्म भी दिया था। आज के बाजार से तब का बाजार भिन्न था, क्योंकि उसका गहरा संबंध उपभोक्ताओं के हितों, जरूरतों और जातीय संस्कृति से था। बाजार ने खड़ी बोली हिन्दी को विस्तृत आकार देना शुरू कर दिया था, भले तब यह साहित्य की भाषा न बन पाई हो।

1663 में पिएट्रो डेल्लावेल्ला नाम के एक यूरोपीय ने अपनी किताब 'इंडियन ट्रैवेल्स' में लिखा कि इस देश में 'हिन्दुस्तानी' ही संपर्क भाषा है और उसकी लिपि नागरी है। ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति के तहत 1798 में खुली ओरिएंटल सेमिनरी में तब अंग्रेज ही 'हिन्दुस्तानी' सीखते थे। अंग्रेजों का अनुभव था कि व्यापारिक सफलता के लिए 'हिन्दुस्तानी' ही उपयोगी है। इसी साल वेलजली गवर्नर जनरल होकर भारत आया था। उसने अपनी राजनैतिक कुशलता का परिचय देते हुए 18 जुलाई, 1800 को एक पत्र लिखा कि अंग्रेज पदाधिकारियों को 'भारतीय इतिहास, भाषाओं, प्रथाओं और रीतिरिवाजों के साथ ही मुसलमानों और हिन्दुओं की न्यायसंहिता और धर्म, राजनीति एवं व्यापारिक रुचि तथा एशिया में ग्रेट ब्रिटेन के संबंधों का सम्यक ज्ञान होना चाहिए।' वेलजली ने बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के अनुमोदन के बिना इसी साल फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की, जहाँ गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' विभाग के अध्यक्ष बने। 1835 में मैकाले की योजना के क्रियान्वयन से पहले भारत में भाषा के सवाल पर एक दूसरी की हवा थी।

आजादी की लड़ाई के दौरान एक बार के हिन्दी की मर्यादा का बोध हुआ था और नए सिरे से हवा बननी शुरू हुई थी। लेकिन यह देश का दुर्भाग्य है कि अंग्रेजी की गुलामी के खिलाफ लड़ाई पश्चिमी आधुनिकता के फैलते साम्राज्य में व्यापक जड़ें नहीं पकड़ सकी। देश की आजादी के बाद 1950 से 65 तक की राजनैतिक मियाद सिर्फ हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के लिए दुर्भाग्यजनक थी। इस अवधि में अंग्रेजी को नए सिरे से अपनी कूटनीति विकसित करने का अवसर मिल गया और भारतीय अंतःकलह भी फैलता गया और अब आर्थिक उदारीकरण के बाद अंग्रेजीकरण की एक नई आंधी चल पड़ी है!

विदेशी कंपनियाँ पश्चिमी संस्कृति और आवारा रंगढंग की खुली प्रचारक हैं, लेकिन उपभोक्ताओं के बीच अपने माल को लोकप्रिय बनाने के लिए विज्ञापन में भारतीय भाषाओं, विशेषतः हिन्दी का सहारा लेती हैं। इससे एक नकली आशा पैदा होती है कि विकासशील भारत में बाजार जितना बढ़ेगा, हिन्दी का भी उत्थान होगा। हिन्दी अब विश्वविद्यालय की भाषा से बाजार की भाषा हो रही है। फिर भी क्या वजह है कि बाजार की भाषा के रूप में उसका

उत्सवमय पुनर्जन्म अपने पीछे एक मातमी धुन भी ला रहा है? यदि आर्थिक उदारीकरण हमारे देश के जातीय औद्योगिक ढांचे को मजबूत बनाता, राष्ट्रीय भाषाओं को पुनर्जीवन जरूर मिलता। लेकिन आर्थिक उदारीकरण जातीय औद्योगिक ढाँचे को रुग्ण बनाकर भारत को उत्पादक देश की तुलना में महज एक नकलची, परजीवी और उपभोक्तावादी देश में ही अधिक रूपांतरित कर रहा है। फलतः भारत की राष्ट्रीय भाषाएँ विज्ञापनों में देरसबेर बुझने वाले दीये की तरह भी भभक कर जल रही हैं।

प्रेमचंद ने 'जमाना' के जून 1905 के अंक में एक लेख लिखा था— 'देसी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है'। इस सदी के पहले दशक में ही उन्होंने कहा था, ''व्यापार के रास्ते में पहली बाधा यह है कि अभी तक हमारे देश वालों को हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों और कारखानों की जानकारी नहीं है।... केवल (अंग्रेजी) पढ़े-लिखे लोगों के संरक्षण और सहानुभूति से हमारे व्यापार और उद्योग की यथेच्छ उन्नति नहीं हो सकती, जब तक आबादी का वह बड़ा हिस्सा भी जो मुल्की और कौमी मामलों तरफ से बेखबर है, इस अच्छे काम में हाथ न बंटाए।'' प्रेमचंद भारत को एक स्व-औद्योगिक देश के रूप में देखना चाहते थे, विदेशी वस्तुओं के भुक्खड़ उपभोक्ताओं के देश के रूप में नहीं। उन्होंने भारतवासियों के मन में पैठे विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षण को पहचान कर लिखा था, ''वे जत्थे के जत्थे आते हैं, शहरों में विदेशी और रद्दी माल सस्ते दामों में खरीदते हैं।'' विदेशी वस्तुओं के प्रति अतिरिक्त आकर्षण अंग्रेजी के प्रति आकर्षण की ओर ले जाता है। यदि भारत को जापान जैसा अपनी राहों से विकसित औद्योगिक देश बनाया जाता, तो यहाँ अंग्रेजी टिकी नहीं रहती। भारतीय उद्योगीकरण में व्यापकता नहीं आ पाई। यहाँ औद्योगिक विकास की जगह विपणन और पूँजी बाजार पर कब्जा में अधिक रुचि है। यदि आर्थिक उदारीकरण भारत को पूर्वापेक्षा एक अधिक बड़ा उत्पादक देश बनने में मदद देता, स्थानीय उद्योग-धंधों को रुग्ण बनाने की जगह चंगा करता, औद्योगिक विकास के लिए बुनियादी ढाँचागत सुविधाएँ बढ़ाता, तब संभव था कि स्थानीय औद्योगिक विकास के साथ स्थानीय भारतीय भाषाएँ भी तरक्की करतीं। उद्यमियों और संपन्न हो रहे श्रमिकों दोनों में पर्याप्त स्वदेश-चेतना होती। भूमंडलीकरण 'स्थानीय' के पक्ष में जाता। लेकिन हमारे देश में आर्थिक उदारीकरण 'स्थानीय' के दमन के साम्राज्यवादी हथियार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। फलतः बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ यहाँ आर्थिक लूट ही नहीं मचा रही हैं, सांस्कृतिक तहस-नहस ही नहीं कर रही हैं, देसी पूँजीपतियों के साथ मिलकर भारतीय भाषाओं को पृष्ठभूमि में फेंकने के षड्यंत्र में भी लगी हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रचार की भाषा में सिमट कर भारतीय भाषाएँ अपना चेहरा ही नहीं, अस्तित्व तक खो देंगी। राष्ट्रीय भाषा जीवन पाती है राष्ट्रीय संस्कृति और इसको विकसित करने वाले मेहनतकश देशवासियों के आत्मपहचान के विस्तृत संघर्ष से। जब विश्व

बाजार और उपभोक्तावाद राष्ट्रीय संस्कृति का पूर्ण बाजारीकरण कर लेंगे और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देश के लोगों की आशाएँ, आकांक्षाएँ और जरूरतें पूरी तरह बदल देंगी, तब राष्ट्रीय भाषाएँ आकाशवट तो हैं नहीं कि बादलों में उनकी जड़ें लगेंगी। यदि उसी दिशा में विकास आगे जारी रहा, जिस दिशा में फिलहाल हो रहा है, तो राष्ट्रीय भाषाएँ पिछड़ेपन की भाषाएँ मानी जाएँगी।

खासकर नई पीढ़ी का जिस गति से अंग्रेजीकरण हो रहा है, अंग्रेजी जिस प्रकार चंद लोगों की भाषा से समाज के नए समर्थ वर्गों की भाषा बन रही है और अब आदमी को देश के नक्शे से उठाकर जिस तेजी से पूरे ग्लोब पर खड़ा किया जा रहा है, यह सब देखकर लगता है कि हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएँ अब जल्दी ही मातृभाषाओं से 'दादी अम्मा की भाषाएँ' हो जाएंगी। बच्चे देखेंगे कि उनकी माँ उच्च फैशन की बहुराष्ट्रीय उत्पादों की ही नहीं, अंग्रेजी की भी दीवानी हैं और उनका देश भारत से 'इंडिया' हो गया है। हिन्दी के विकास में सबसे बड़े अवरोधक साबित हुए हैं वे शिक्षित जन, जो थोड़ी शिक्षा पा जाने या कला-साहित्य का ज्ञान हो जाने के बाद पश्चिमी असर में चले जाते हैं। उन्हें अपनी पहचान हिन्दी से जोड़े में छोटेपन का बोध होता है। इस पर सोचना होगा, हिन्दी के बड़े-बड़े आधुनिक लेखक तक हिन्दी जातीय चेतना से रिक्त क्यों रह गए और उनके लेखन में हिन्दी समाज का ठोस यथार्थ अनुपस्थित क्यों रह गया?

राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में एक आशा बंधी थी कि भारतीय भाषाओं का गौरव फिर स्थापित होगा। उस जमाने की राजनीति ने सदियों से रोंदी गई हिन्दी को ही राष्ट्रीय चेतना का मुकुट नहीं बना दिया, दूसरी भारतीय भाषाएँ भी आत्मगौरव से भर उठी थीं। न केवल बड़े व्यापारी हिन्दी विद्यालय, समाचार पत्र, पुस्तकालय, प्रकाशन गृह आदि खोलने में सुख का अनुभव करते थे, बल्कि राजनीतिज्ञ भी अंग्रेजी छोड़कर हिन्दी अपना रहे थे। यह सब देशप्रेम और राष्ट्रीय भावना का प्रतीक माना जाता था। आज देशप्रेम से अधिक जरूरी है स्थानीय संकीर्णतावाद और भूमंडलीयता का रिमिक्स। इसलिए वे सभी संस्थाएँ खंडहर में बदल रही हैं, जो राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में जातीय आधुनिकता के मंदिर समझी जाती थीं। अब शहरों में हिन्दी माध्यम के नए स्कूल, पुस्तकालय, साहित्यिक संस्थान खुलने बंद हो गए हैं। यह जातीय आत्मक्षय का लक्षण है। हिन्दी में बातचीत घट रही है। गाँवों में भी अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खुलने लगे हैं और भूमंडलीकरण से सरकारी-व्यावसायिक दफ्तरों में पुनः अंग्रेजीकरण को बल मिला है।

पुराने दिनों में राष्ट्रीय जन उभार का एक असर यह था कि भाषिक बुनियादवाद पृष्ठभूमि में जा चुका था– हिन्दी को राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, बुंदेलखंडी आदि भाषाएँ मिलकर अपनी-अपनी शक्ति दे रही थीं। किसी दुर्गा की तरह सजी हुई थी हिन्दी। सभी ने एक स्वर से चंदबरदाई, खुसरो, विद्यापति, मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की काव्य भाषाओं को हिन्दी की परंपरा में देखा था। जब हम लोगों ने इन्हें पढ़ना शुरू किया था, तब कभी सोचते भी नहीं

थे कि ये हिन्दी के कवि नहीं हैं। न तब अलग मैथिली की बढ़ी-चढ़ी आवाज थी, न अलग भोजपुरी की। न अलग राजस्थानी की। न अलग ब्रज, छत्तीसगढ़ी और बुंदेलखंडी की। अपने को जोड़कर ये सभी भाषाएँ 'नई चाल में' ढल चुकी थीं, जो थी हिन्दी। हिन्दी सामंती संकीर्णता और साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में एक साझा आधुनिक निर्माण थी।

निस्संदेह स्थानीय सह-भाषाओं और संस्कृतियों को उन्नति के अवसर मिलने चाहिए। लेकिन यह भी देखना होगा कि कहीं सामाजिक भिन्नतावाद को स्वार्थवश बढ़ावा देने के लिए ही तो भाषिक-सांस्कृतिक भिन्नता और संरक्षण की आवाज नहीं उठ रही है। सामाजिक भिन्नतावाद ने हिन्दी और उर्दू के बीच दूरी बढ़ाकर रखी। यदि धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई को दोनों संप्रदायों के बीच सामाजिक अंतःक्रिया और एकता से जोड़ा जाए, दोनों भाषाएँ निकट आएंगी और एक साथ मिलकर अंग्रेजी को बहुत असरदार टक्कर देंगी। लेकिन सांप्रदायिक-पृथकूतावादी तत्त्व सामाजिक एकता नहीं चाहते। इसलिए उनका पांडित्यवाद हिन्दी-उर्दू की निकटता का शत्रु बना हुआ है और अंग्रेजी का प्रच्छन्न अभिनंदनकर्त्ता।

हिन्दी जिन भाषाओं और बोलियों का विकास है, उनका पृथकूतावादी स्वर स्वतंत्र आत्मपहचान क्या पैदा कर पाएगा, उल्टे भूमंडलीकरण को ही बढ़ने का मौका देगा। भाषाई पृथकूतावादी कहते हैं कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं है। उनकी मातृभाषा है मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रज, बुंदेलखंडी आदि। यह सामाजिक भिन्नतावाद है, जो सिर्फ हिन्दी समाज नहीं, पूरे देशे के लिए खतरा है। यदि हिन्दी प्रदेश के लोगों की मातृभाषाएँ ये सभी हैं, तो हिन्दी किसी मातृभाषा है ? वस्तुतः उपर्युक्त सभी भाषाएँ हिन्दी की माँ हैं। माँ अपीन संतान की विरोधी नहीं हो सकती। फिर भी कुछ कुंठित महत्त्वकांक्षी नेता माँ को उसकी संतान से लड़ाना चाहते हैं। ये अपने क्षेत्र में विद्यालय खोलेंगे अंग्रेजी माध्यम के, चलेंगे अंग्रेजियत की चाल पर, लेकिन छद्‌म स्थानीयता-प्रेम दिखाते हुए मांग करेंगे कि संविधान की आठवीं अनुसूची में मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी या ऐसी ही दूसरी भाषाएँ दर्ज हों, हम हिन्दी को मातृभाषा नहीं मानते। आज का कौन विद्यार्थी उपर्युक्त सहभाषाओं में शिक्षा लेने के लिए तैयार है? हिन्दी माध्यम से पढ़ाने में ही आज के अभिभावक अपनी हीनता समझते हैं, तो मैथिली, भोजपुरी या राजस्थानी माध्यम से कौन पढ़ाएगा अपने बच्चों को? क्या हम हिन्दी प्रदेशों में उतने राज्य बनाने जा रहे हैं, जितनी सह-भाषाएँ, उप-भाषाएँ या बोलियाँ हैं? इस तरह रोज हर भाषा के भीतर से दस भाषाएँ निकल आया करेंगी। यह मातृभाषा-प्रेम नहीं होगा, इसे साम्राज्यवाद-प्रेरित सामाजिक भिन्नतावाद कहा जाएगा, जिसके मूल में होती है सत्ता-लालसा!

दरअसल हिन्दी प्रदेश में हिन्दी का विकास और हिन्दी नवजागरण का काम अभी बहुत बाकी है। आर्थिक पिछड़ेपन, सामाजिक गतिशीलता के अभाव और जातीय नवनिर्माण के

विभिन्न अवरोधों के कारण हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी अभी भी पिछड़ी हुई है। गलती यह हुई कि हिन्दी के साहित्यिक विकास को ही हिन्दी का विकास मान लिया गया!

भाषाई पृथक्तावाद जितने गंभीर रूप में हिन्दी का मामला है, दूसरी किसी भारतीय भाषा का नहीं। शायद इसलिए कि हिन्दी दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह एक छोटे प्रदेश की भाषा नहीं है। हिन्दी एक विराट क्षेत्र की भाषा है। विस्तृत उद्योगीकरण के अभाव में अनगिनत सामंती अंतर्विरोध उसे विरासत में मिले हैं। इस प्रकार भाषिक पृथक्तावाद पुराने सामंती अंतर्विरोधों और संकीर्णतावाद का ही एक नतीजा है, जिसका फायदा अंग्रेजी के पक्षधर उठाते हैं। वे हिन्दी के सामंती अंतर्विरोधों पर हंसते हैं, मुख्य बात यह नहीं है। मुख्य बात है कि मुट्ठी भर हठी लोग एक उदार ढाँचा वाली मिश्रणशील भाषा, समाज और संस्कृति में बर्लिन की ऐसी दीवारें खड़ी कर रहे हैं, जिन्हें राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने काफी पहले धराशायी कर दिया था।

हिन्दी के साथ दूसरी विडंबना इसके राजभाषा-स्वरूप को लेकर है। आजादी के 50 साल बाद भी दफ्तरों में वह महज एक प्रतीक-कर्म है या मनोरंजनपरक वार्षिकोत्सव। सांसदों और राजभाषा अधिकारियों के लिए हिन्दी महज एक पर्यटन है, जिसके साथ ढेरों उपहार और तामझाम जुड़े हैं। कार्यालयीन हिन्दी को रघुवीर की परंपरा के हिन्दी अधिकारियों ने 'टेस्ट ट्यूब बेबी' बना दिया है। ऐसी हिन्दी से जनता किसी आत्मीय रिश्ते का अनुभव नहीं कर पाती। अनुवाद की यांत्रिकता ने हिन्दी पत्रकारिता को भी निगल लिया है, इसमें अब वह पुराना ताप नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में भी पिछले कई दशकों से भाषा का निजीकरण होता आया है। इन सबसे हिन्दी के भीतर ही जरूरत से ज्यादा दूरियाँ पैदा हुई हैं, फूट के तत्त्व बढ़े हैं एवं जातीय आत्मगौरव के अभाव में अंग्रेजी के वर्चस्व को नया अवसर मिला है।

हिन्दी के साथ तीसरी विडंबना है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा हिन्दी की दुर्गति। इसके दो बुरे नतीजे सामने आए हैं– विकृत सार्वभौमीकरण और विकृत देहातीकरण। एक में अंग्रेजी के शब्द ठुंसे रहते हैं, दूसरे में बिहारी बोलियों के । हिन्दी की बहुस्त्रोतपरकता, विविधता और सृजनात्मकता को देखते हुए कभी व्यापार और राजनीति ने हिन्दी के ढांचे में एक ऐसी मिश्रित भाषा की परिकल्पना की थी, जिसमें संस्कृत, उर्दू, दूसरी भारतीय भाषाओं और लोकभाषा के शब्द हों। बुद्ध, अशोक, कबीर, तुलसी, अकबर आदि की परंपरा में भाषिक कट्टरता की कोई जगह नहीं थी। उदारतापूर्वक मिश्रण हिन्दी की प्रकृति है। लेकिन इधर टीवी की हिन्दी पर नजर डालें तो पाएंगे कि सभी उपर्युक्त स्त्रोत गायब हैं। हिन्दी में मिश्रित हो रही है सिर्फ अंग्रेजी। निस्संदेह सरलता एवं पारदर्शिता के साथ मिश्रणशीलता भी जीवंत भाषा का एक प्रमुख लक्षण है। कहा जाता है कि अंग्रेजी में हजारों भारतीय शब्द मिश्रित हुए, परंतु यह सकारात्मक मिश्रण था। इसने अंग्रेजी भाषा की बुनियादी प्रकृति और संरचना को बिगाड़े बिना उसे समृद्ध किया। हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण नकारात्मक है। यह जिस ढंग का मिश्रण है, वह हिन्दी की

बुनियादी प्रकृति और संरचना को बिगाड़ता है। यह सरासर साम्राज्यवादी प्रभुत्ववाद है। कहाँ वह एक दौर था, मानक ही नहीं, अच्छी, सादी और पारदर्शी हिन्दी गढ़ने का, कहां आज का दौर है हिन्दी के अहिन्दीकरण का, वस्तुतः हिन्दी संस्कृति को नष्ट करने का।

हिन्दी से अधिक दूसरी किसी भारतीय भाषा का इतना मजाक नहीं उड़ाया जाता, इतनी फजीहत नहीं की जाती। प्रवचनकर्ता तक हिन्दी की कैसी छीछालेदर करते हैं, उसका एक नमूना देखिए और समझ जाइए कि यह किसका प्रवचन है, 'जिस तरह घड़ी वाटरप्रूफ और शॉक प्रूफ होती है, हरि नाम जपने से जीवन भी प्राब्लम-प्रूफ हो जाता है—जै राम जी की!' नई पीढ़ी के अंग्रेजी पढ़े-लिखे बच्चे हिन्दी का एक भी पूरा वाक्य बोल नहीं सकते। कुछ लोग अंग्रेजी में सोच कर ही हिन्दी में बोल पाते हैं और बहुत गर्व से यह बात स्वीकार करते हैं। हिन्दी अपना चेहरा जिस तेजी से खो रही है, दूसरी कोई भारतीय भाषा नहीं। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं कि हिन्दी समाज भूमंडलीय व्यापार का एक प्रमुख निशाना है। अश्लीलता की हदों को छूता भाषिक विकृतिकरण का सिलसिला इसलिए पनप रहा है कि हिन्दी समाज में राष्ट्रीय आत्मपहचान की भूख नहीं है, हिन्दी के गौरव का बोध नहीं है। हिन्दी से जुड़ी विडंबनाओं को यदि दूर नहीं किया गया तो 25 साल बाद हिन्दी की दशा ग्रीक और संस्कृत जैसी हो जाएगी, उसमें सिर्फ काव्य लिखा जाएगा। हिन्दी न अभिजनों और अमीरों से संपर्क की भाषा रहेगी, न गरीबों से संपर्क की भाषा। हिन्दी की जगह ले लेगी अंग्रेजी या हिन्दी की सह-भाषाएँ-बोलियाँ! यदि आने वाले दिनों में हमारे ही घरों में खड़ी बोली हिन्दी नहीं बोली जाएगी, तब वह वस्तुतः कहाँ जगह पाएगी?

हिन्दी की अपनी विशिष्ट विडंबनाओं के बावजूद, इसकी नियति दूसरी भारतीय भाषाओं की नियति से जुड़ी हुई है। इसी तरह भूमंडलीकरण के दबाव में दूसरी भारतीय भाषाओं की नियति भी हिन्दी की नियति से भिन्न नहीं होगी। यह तय हो गया है कि सभी भारतीय भाषाओं को अब एक साथ जीना या एक साथ मरना है। जातीय पुनर्जागरण उन्हें फिर एक बार नया जीवन देगा, जातीय आत्मक्षय उन्हें फिर एक बार पृष्ठभूमि में फेंक देगा। यह मान कर चलने की पर्याप्त वजहें हैं कि जब दूसरी भारतीय भाषाओं से हिन्दी का गहरा लगाव है तो हिन्दी जातीय-भाषाई समुदाय में विविधता को दरार में बदलने की कोशिशें या नए साम्राज्यवादी सांस्कृतिक आक्रमण के असर में पुनः अंग्रेजीकरण महज मध्यांतर का एक दुखांत है। यह नहीं समाज की अंतिम नियति नहीं है।

पिछले कुछ सालों से विज्ञान और व्यापार भाषा को ध्वनि-संकेतों और दृश्य-संकेतों में सीमित करके उसे महज एक यांत्रिक उत्पादन में बदल रहे हैं। भाषा केवल सूचना का माध्यम नहीं है, वह राष्ट्रीय पहचान भी है। उसे महज कोडों, चिह्नों, संकेतों, रेखाओं, और संख्यावाचकता में बांध देना अपनी पहचान धीरे-धीरे खो देना है। क्या भाषा भाप की तरह उड़ जाएगी, भाषिक वाष्पीकरण होगा? ऐसा नहीं है कि जीवन को गतिशील बनाने की प्रक्रिया में कोडों, चिह्नों और

संख्याओं को महत्त्व नहीं मिलना चाहिए, मगर जीवन सिर्फ कोड, चिह्न और संख्या नहीं है। आदिम जीवन में सिर्फ चिह्न, संकेत और संख्या ही थे। आदिम जीवन से धीरे-धीरे भाषा की ओर बढ़ना महज एक माध्यम की ओर बढ़ना नहीं था, वह एक आत्मपहचान और संस्कृति की ओर बढ़ना भी था।

भाषा के सार्वभौमीकरण की नई वैज्ञानिक प्रक्रिया आभास दे सकती है कि हम एक विश्वभाषा की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें अब शब्द नहीं, सीधे वाक्य होंगे। ये किसी भी देश और समाज में संगीत की तरह ग्राह्य होंगे। शब्द अब न्यूनतम उपयोग के ही काबिल रह जाएंगे। एक दिन शब्द नहीं होंगे। इसके साथ समाज और संस्कृति के समस्त बंधन टूट जाएंगे, मनुष्य भूमंडलीय हो जाएगा। पिछड़े रह जाएंगे वे सभी, जो देशभक्त होंगे और भारतीय भाषाओं में काम करेंगे। क्या अब यही होगा कि भारतीय भाषाएँ आदिम भाषाओं की तरह नजर आएंगी?

भाषा को लेकर हमारा दर्शन घटते-घटते यहाँ पहुँच गया है कि भाषा महज कामज चलाने के लिए है। अंग्रेजी भी काम चलाने के लिए है, उससे काम को पंख लग जाते हैं। विश्व ग्राम की साम्राज्यवादी अवधारणा ने अंग्रेजी का शैक्षणिक, व्यापारिक और सामाजिक महत्त्व बढ़ा दिया है। अंग्रेजी से काम तेजी से चलता है। इसकी सीधी पहुँच का वृत्त पूरा भूमंडल है। भले ही काम चलाने के लिए अंग्रेजी का दामन पकड़ा गया हो, पर कामचलाऊपन के दर्शन ने जनता में सामाजिक रिश्तों की गंभीरता मिटा दी है। इसने साहित्य के क्षेत्र में, हर भाषा के साहित्य से मुहावरों और लालित्य का अपहरण कर लिया है। भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की नई किताबों का अकाल है या जो छप रही हैं, वे चर्चित चर्वण हैं। नव-औपनिवेशिक बौद्धिकता के माल! इन पुस्तकों में भारतीय यथार्थों से सीधी मुठभेड़ नहीं है, सब कुछ वाया अंग्रेजी पुस्तकें! फलतः आज की हिन्दी में कोई राष्ट्रीय आत्मा नहीं झांकती, वह बड़ी सुस्त और औपचारिक-सी होती जा रही है, लगभग प्राणहीन। जरूरत इसकी है कि विकास की ताजगी के साथ भाषा के खोए बहुमूल्य संस्कारों को पुनः कैसे पाया जाए, लेकिन यहाँ तो सभी बड़ी जल्दी और पश्चिमी उन्माद में हैं।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने कभी एक बहुत अच्छी बात कही थी, ''मुझे देश की आजादी और भाषा की आजादी में किसी एक को चुनना पड़े तो मैं निस्संकोच भाषा की आजादी चुनूंगा, क्योंकि मैं फायदे में रहूँगा। देश की आजादी के बावजूद भाषा की गुलामी रह सकती है, लेकिन अगर भाषा आजाद हुई तो देश गुलाम नहीं रह सकता।'' निस्संदेह भारतीय भाषाओं की आजादी पर ही देश और इसकी संस्कृति का भविष्य निर्भर करता है।

भारतीय भाषाएँ अपनत्व की भाषाएँ हैं, रिश्तों के गहरे अहसास की भाषाएँ हैं। अपनी मातृभाषा छोड़ने वाले भारतीय धीरे-धीरे सभी रिश्ते छोड़ देते हैं। अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने वाले अभिभावक पाएंगे कि अंग्रेजीदां हो जाने के बाद उनकी संताने उनके साथ वैसा ही व्यवहार

करेंगी, जैसा अमेरिका की संताने अपनी 'मम्मी या डैडी', अपने 'ब्रदर्स या सिस्टर्स' या 'फ्रेंड्स' के साथ करती हैं। भारत को अमेरिका बनाने में लगे लोग एक दिन अपने को अभिशप्त और भीतर से खोखले निवासियों के रूप में पाएंगे!

जी.टी. रोड
कोलकाता
पश्चिम बंगाल

हिन्दी के विश्वभाषा रूप में उन्नयन की सम्भावनाएँ

—यशदेव शल्य

कोई भाषा विश्व-भाषा अधिकांशतः उस भाषा के बोलने वालों के राजनैतिक-सैनिक विस्तार के द्वारा बनती है। कभी-कभी कोई भाषा उसमें रचे गए वाङ्मय की समृद्धि के आधार पर भी विश्वभाषा बन सकती है, पर अधिकांशतः ऐसा होता नहीं है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म और दर्शन से समृद्ध संस्कृत भाषा से चीनियों और तिब्बतियों ने उस वाङ्मय का अनुवाद अपनी भाषाओं में कर लिया किन्तु संस्कृत कभी उनकी भाषा नहीं बनी। इसी प्रकार रूसी उपन्यासों और जर्मनी के दर्शन-ग्रन्थों या काव्य-ग्रन्थों के दूसरी भाषाओं में अनुवाद ही हुए, ये भाषाएँ अन्य भाषा-भाषियों की भाषाएँ नहीं बनीं। आज अंग्रेजी विश्वभाषा है, उससे कुछ कम फ्रांसीसी है, ये दोनों इनके बोलने वालों के साम्राज्यों के कारण विश्वभाषाएँ बनी हैं। अन्यथा वाङ्मय की दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ, विशेषतः अंग्रेजी, 18वीं शताब्दी तक कोई सर्वाधिक समृद्ध भाषाएँ नहीं थीं, इससे जर्मन भाषा कहीं अधिक समृद्ध थी। इंग्लैण्ड द्वारा भारत-विजय के बाद यूरोप के लोगों का संस्कृत की ओर भी ध्यान गया क्योंकि यह भाषा वाङ्मय की दृष्टि से बहुत समृद्ध थी, उनके कुछ विद्वानों ने यह सीखी और इसमें पारंगत भी हुए, किन्तु उन्होंने न तो इसे अपनी भाषा के रूप में अपनाया और न इसके वाङ्मय को अपने वाङ्मय के रूप में अपनाया। इसके वाङ्मय को उन्होंने भारत-विद्या (इंडोलोजी) के नाम से अन्य के वाङ्मय के रूप में ही देखा। इसके विपरीत इंग्लैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों के वासियों ने इनकी भाषाओं को अपनी भाषाओं के रूप में ही अपनाया और इनके वाङ्मय को आत्मसात् करने, या उससे तत्सात् होने को अपना आदर्श बनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनकी वेश-भूषा और रंग-ढंग आदि को भी अपनाने का प्रयत्न किया। इससे भारतीय भाषाएँव भारत के प्रतिष्ठित वर्ग की भाषाएँ होने से रह गईं और इनमें साहित्यिक लेखन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वाङ्मय की रचना नहीं हो पायी। यों इससे पहले की कुछ शताब्दियों से, सम्भवतः मुस्लिम शासन के कारण, भारत में सामान्यतः ही साहित्येतर वाङ्मय की रचना बहुत कम हो रही थी, किन्तु तब भी जो रचना हो रही थी वह संस्कृत में ही हो रही थी, जन-भाषाओं में नहीं हो रही थी। अंग्रेजी शासन-काल में संस्कृत का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया। संस्कृत से अंग्रेजी की ओर संक्रमण केवल भाषा तक ही सीमित नहीं रहा, यह संक्रमण वाङ्मय में भी हुआ। अब अध्ययन और लेखन का विषय पाश्चात्य विचार हो गया। स्वतन्त्रता-संग्राम-काल में राष्ट्रीयता की अवधारणा के उदय के साथ

भारत की राष्ट्रभाषा की अवधारणा भी बनी और इस रूप में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया, किन्तु गाँधीजी और कुछ अन्य इने-गिने नेताओं के अतिरिक्त किसी भी राजनीतिक नेता ने पूरे मन से हिन्दी को 'आर्यजन' की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया, 'पृथग्जन' की भाषा के रूप में ही स्वीकार किया। राज्य की ओर से विश्वविद्यालयों की भाषा और राज-काज की भाषा अंग्रेजी बनायी गयी और हमारे पृथग्जन और आर्यजन दोनों के मन में प्रकट रूप से या अप्रकट रूप से अंग्रेजी और अंग्रेज़ियत की श्रेष्ठता का भाव घर कर गया। ऐसे में हमारे लिए भाषा ही आयातित नहीं हुई, विचार भी हुआ। हमारे सुधीजन पाश्चात्य विचारों में पण्डित्य सिद्ध कर स्वयं विचार करने की सामर्थ्य खो रहे थे। इस प्रकार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में काव्य-लेखन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं लिखा जा रहा था। इस प्रकार हमारी भाषाएँ हिन्दी सहित, अपने ही देश की भाषा के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुईं। इस मानसिकता के कारण ही स्वतन्त्रता के बाद भी भारतीय भाषाएँ कभी अपनायी नहीं गईं। प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू ने लोकसभा में जो प्रथम भाषण दिया वह अंग्रेज़ी में ही दिया, हमारा संविधान जो बना वह यूरोप के संविधानों के आधार पर ही बना, इतना ही नहीं, स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने अध्यापकों को अध्यापन में उत्कृष्ट बनाने के लिए केवल विज्ञान विषयों में ही नहीं मानविकी और समाजशास्त्रीय विषयों में भी वहाँ के विचारों के कौशल प्राप्त करने के लिए भिजवाया। यह एक ऐसा सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य था जिससे बड़े सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसे समझने के लिए निम्न तीन प्रश्न देखें– 1. कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है ? 2. समाज क्या है और व्यक्ति क्या है और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? 3. मन क्या है? ये तीन प्रश्न क्रमशः दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के आरम्भिक प्रश्न कहे जा सकते हैं। अब इनके उत्तर क्या संस्कृति-निरपेक्ष हो सकते हैं? उदाहरणतः तीसरे प्रश्न के उत्तर के रूप में पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुरूप हमारे विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है कि – 'मन शरीर' – व्यवहार है। यह परिभाषा एक पूरी तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत करता है, अब यह परिभाषा जो तत्त्वमीमांसा आधुनिक पश्चिम के सांस्कृतिक इतिहास में मूलित है। अब इस उत्तर को स्वीकार करने का अर्थ है अपनी सांस्कृतिक परम्परा से उन्मूलित होना। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद अपने स्वयं ही इस उन्मूलन को अपने लिए चुना। हमारे अध्यापक पश्चिम की ओर दौड़ाये गये कि वे वहाँ से यह सब सीख कर आयें और स्वयं उन्मूलित होकर विद्यार्थियों को भी उन्मूलित करें।

मैं जब 1952 में साहित्य का क्षेत्र छोड़कर दर्शन के क्षेत्र में आया तो मैंने पाया कि हिन्दी में दर्शन की कोई पत्रिका नहीं है और न हिन्दी में कोई इस विषय की पुस्तकें हैं। उस समय मेरे में यह सांस्कृतिक विवेक तो नहीं था जिसकी चर्चा अभी मैंने ऊपर की है, किन्तु यह समझ तब मेरे में जगी कि हिन्दी ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है, जो संस्कृति और सभ्यता

में मूर्धन्य होने की बात करता है। तब मैंने इस सम्बन्ध में राजकमल प्रकाशन की विज्ञापन-पत्रिका प्रकाशन समाचार में एक लेख लिखा और उसके बाद इस स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। किन्तु तब मैंने पाया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए निरन्तर संघर्षरत राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं में इसका कोई बोध ही नहीं है। इस पर मैंने लिखा कि हिन्दी की सब संस्थाओं को साहित्य की बात छोड़ कर अन्य विषयों में वाङ्मय रचना की ओर ही ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हिन्दी में साहित्य-रचना तो स्वतः ही हो रही है। किन्तु मेरी इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। तब मैंने अकेले ही दार्शनिक पत्रिका और दर्शन परिषद् आरम्भ करने का बीड़ा उठाया। इस पर डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मेरा यह प्रयत्न सफल होना असम्भव है, क्योंकि वे समाजशास्त्रीय पत्रिका 'समाज' का प्रकाशन आरम्भ कर उसे दो बार बन्द करने को बाध्य हुए थे। किन्तु उनकी चेतावनी के बाद भी मैंने वह पत्रिका और परिषद् आरम्भ कर दी और उसमें सफल रहा, यह एक अलग किस्सा है, किन्तु इससे देश की चेतना में कोई अन्तर नहीं पड़ा। पीछे 1960 के बाद जब लोकसभा में भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए दबाव बढ़ा तो सब को यही पता चला कि इन भाषाओं में तो किसी विषय की कोई पुस्तकें ही नहीं हैं। तब इन विषयों में अंग्रेजी से पुस्तकें अनुवाद करने की योजना बनायी गयी, पारिभाषिक शब्दावली आयोग की स्थापना की गई और सांस्कृतिक आत्मघात की पूरी व्यवस्था कर ली गई। तब यहाँ प्रश्न होगा कि ऐसी अवस्था में और क्या किया जा सकता था? इस पर मेरा उत्तर है कि हमें अपने अध्यापकों से कहना चाहिए था कि वे अपनी भाषाएँ सीखें और विभिन्न विषयों में लिखने के लिए अपनी परम्परा को और अपने अनुभव को देखें। अवश्य वह लेखन आरम्भ में अनगढ़ होता किन्तु ऐसे सुघड़ लेखन का क्या अर्थ जो अपने अनुभव के ही निषेध पर प्रतिष्ठित हो? किन्तु इस सुघड़ लेखन के पीछे हमने अनुवादों के कारखाने खोल दिये, जिनमें हमारे विद्यार्थियों के लिए अप्रासंगिक विचार अबूझ शब्दावली मे प्रस्तुत किया गया। यह शब्दावली अबूझ इसलिए थी क्योंकि इन शब्दों को हमारी अपनी भाषा में कोई प्रयोग नहीं था, वे उन विदेशी शब्दों के पर्यायवाची मात्र थे जिनके अर्थ उन शब्दों से ही जुड़े थे जिनके अर्थ बताने के लिए ये शब्द गढ़े गए थे। इससे यह आशा की गई थी कि इन अनुवादों के द्वारा यह ज्ञान-भण्डार हिन्दी में आ जाने पर क्रमशः हिन्दी में मौलिक लेखन भी होने लगेगा। किन्तु दूसरों के विचारों के उपजीवी होकर मौलिक लेखक होने की आशा से बड़ी दुरांशा क्या हो सकती थी? यही कारण है कि हमारे देश में विचार के क्षेत्र में मौलिक लेखन हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में ही नहीं, अंग्रेजी में भी नहीं हो रहा है, सिवाय ऐसे कुछ अपवादों के जिन्होंने हठ ठाना है कि वे किसी की नकल नहीं ही करेंगे। ऐसी परिस्थिति में हम दूसरों के लिए सम्माननीय नहीं हो सकते। दूसरों के लिए सम्माननीय होने के लिए पहली पूर्वापेक्षा आत्मसम्मान का होना

है जो हममें नहीं है। स्वतन्त्रता से पहले हम इसकी रक्षा का कुछ प्रयत्न करते थे, बाद में हमें इसकी रक्षा की भी आवश्यकता नहीं रही और यह हममें निरन्तर घट ही रहा है बढ़ नहीं रहा है। आप लोग अधिकांशतः साहित्यिक क्षेत्र से सम्बन्धित है इसलिए मैं इसी का उदाहरण दूँगा। इस क्षेत्र को मैं लगभग 1948 से देख रहा हूँ। इस क्षेत्र के लोग जैसे फ्रायड, एड्लर, मार्क्स-एंजल्स, सार्त्र आदि के नाम लेकर एक-दूसरे पर रौब डालने का प्रयत्न करते रहे हैं, वह आप सबको भी पता है। आज उनके स्थान पर दूसरे नाम आ गए हैं। पीछे किसी संस्था ने देरिदा को आमन्त्रित किया (वे आज हमारे नये देवता हैं) तो दूर-दूर से हमारे साहित्यिक उनके दर्शन और श्रवण के लिए दिल्ली पहुँचे। इस मानसिकता के बहुत से और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इस मानसिकता के रहते हिन्दी के विश्वभाषा होने की बात सोचना हास्यास्पद ही लगता है, क्योंकि इस मानसिकता के रहते तो यह हमारे देश की भाषा भी नहीं बन सकती।

किन्तु हिन्दी को विश्वभाषा बनाने की अभिलाषा का औचित्य भी हमें समझ में नहीं आया। यह अभिलाषा दूसरों पर ही आरोपित होने की है। कोई व्यक्ति दो प्रकार से दूसरों पर प्रभाव स्थापित कर सकता है। एक तो भौतिक बल से दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करके और दूसरे इतनी सुदृढ़ता से आत्मप्रतिष्ठ होकर कि दूसरे स्वयं उसकी ओर आकर्षित हों। अब जैसा कि हमने पीछे कहा, कोई भाषा विश्वभाषा बलात् आरोपण से ही बनती है। हाँ उसमें यदि वाङ्मय उत्कृष्ट हो तो उसके ग्रन्थों का लोग अपनी भाषाओं में अनुवाद करने को स्वयं प्रेरित होते हैं। किन्तु हमारे पास न तो बल है और न वाङ्मय। स्वतन्त्रता के पहले पी.एल. 480 योजना के अन्तर्गत अमरीका के साथ अध्यापकों की एक तथाकथित विनिमय की व्यवस्था चली थी। तब एक वरिष्ठ अध्यापक ने बताया कि वे उसके अन्तर्गत अमरीका जा रहे हैं। इस पर मैंने उन्हें कहा कि इसमें विनिमय की बात कहाँ है? यहाँ से अध्यापक सीखने जाते हैं और वहाँ से सिखाने आते हैं। इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यही बात अनुवाद की है। भारतीय लेखक स्वयं अपने ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करते या करवाते हैं। अंग्रेज़ तो हमारे ग्रन्थों का अनुवाद नहीं करते। वे केवल हमारे प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद करते हैं। कुछेक बार मुझे भी कहा गया कि मेरे ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। मैंने उत्तर दिया, मुझे इसमें कोई रूचि नहीं है। यदि कभी अंग्रज़ों को होगी तो वे स्वयं कर लेंगे।। अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय एक 'हिन्दी' नामक पत्रिका अंग्रेजी में प्रकाशित करता है, हमारी अनुसंधान परिषदें अपनी पत्रिकाएँ केवल अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित करती हैं। यह हमारे आत्म-अप्रतिष्ठ होने का द्योतक है। हमें आवश्यकता आत्मप्रतिष्ठ होने की है जो परापेक्षी होने के विपरीत भाव है। विश्व-विजय की अभिलाषा में भी एक प्रकार की परापेक्षा ही है। वह कोई वांछनीय स्थिति नहीं है। सहज स्थिति आत्म-प्रतिष्ठा की है और हमें वही होना चाहिए। हिन्दी को दूसरों पर थोप कर हमें क्या मिलेगा? किन्तु खैर, हमारे पास यह सामर्थ्य कभी आने वाला नहीं है कि हम दूसरों

पर अपनी भाषा थोप सकें। इसलिए भाषा द्वारा विश्व-विजय की यह आकांक्षा केवल झूठी दुराशा पालने की बात ही है।

किन्तु एक बात है जो करने की है और जो हमें करनी चाहिए वह है विदेशों में रहने वाले भारतीयों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित करना। किन्तु अभी तो हम भारत में ही भारतीयों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित नहीं कर पा रहे हैं। हिन्दी में साहित्येतर विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकों की 500 तक प्रतियाँ भी बरसों तक नहीं बिकतीं, इसलिए उन्हें कोई प्रकाशक प्रकाशित नहीं करना चाहता। पुस्तकालय भी पहले अंग्रेजी की पुस्तकें ही खरीदते हैं। कम से कम हिन्दी-क्षेत्र में यह स्थिति हैं। कहते हैं बंगला, तमिल आदि में स्थिति उतनी बुरी नहीं है। तो यदि हिन्दी के लिए कुछ करना है तो पहले हिन्दी भाषा-भाषियों की मानसिकता बदलें, पीछे अपने शेष देश की।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, टोंक रोड,
जयपुर (राज.) - 302018

भाषा, हिन्दी और हम

–आर.बी. भण्डारकर

1. अपनी भाषा अपनी बात -

'कोई पास न रहने पर भी जन मन मौन नहीं रहता।' (गुप्त जी) सच है मनुष्य शांत हो या अशांत, सुख में हो या दुख में, सहज हो या गंभीर अवस्था में, उसके अन्तर्मन में भावों और विचारों का प्रस्फुटन होता ही रहता है। यह भाव सदैव अभिव्यक्त होना चाहते हैं, इसलिए इन्हें माध्यम की तलाश रहती है।

भावाभिव्यक्ति के अनेक माध्यम हो सकते हैं पर भाषा इनमें से सबसे सशक्त माध्यम है। भाषा का जन्म भी भावाभिव्यक्ति की प्रबलता और उसकी सशक्तता, सार्थक संप्रेषणता के कारण ही हुआ। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं होती वह संस्कृति की वाहिका भी होती है। आज संसार में अनेक लिखित-अलिखित भाषाएं हैं इनमें से कुछ भाषाएं अपने भाषिक और साहित्यिक रूप में काफी समृद्ध हैं। संस्कृत-सुता हिन्दी विश्व की समृद्धतम भाषाओं में से एक है। हिन्दी की देवनागरी लिपि, इसका समुन्नत व्याकरण और इसका प्रचुर साहित्य सबको आकर्षित करता है।

भाषा अनेक रूपों में हमारे सामने आती है—मातृभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा सम्पर्क भाषा। एक बात बिल्कुल सच है कि कोई व्यक्ति अपने भावों/विचारों को अपनी ही भाषा में सर्वाधिक कुशलता से व्यक्त कर सकता है, इसलिए अपनी ही भाषा में कार्य करने से उसमें कार्यपटुता आती है। यदि हम मनन किसी एक भाषा में तथा अभिव्यक्ति किसी अन्य भाषा में करेंगे तो इसमें हमें अनुवाद के माध्यम को अपना पड़ेगा, अनेवाद कितना भी उच्चकोटि का क्यों न हो, मूल के मुकावले उन्नीस ही रहेगा। इसलिए ऐसी स्थिति में निरी भाषा सामने आती है; भाव जो संस्कृति और सामाजिकता के वाहक होते हैं पीछे रह जाते हैं।

भाषा और साहित्य की दृष्टि से हमारा देश काफी समृद्धशाली रहा है पर सदियों की गुलामी ने हमारी भाषा को काफी पीछे धकेल दिया था। इसलिए भाषा, साहित्य में एवं लोक में तो पनपती और पुष्ट होती रही पर शासन में पिछड़ गई। राजकाज की भाषा कभी अरबी-फारसी रही तो कभी अंग्रेजी। इसका यह परिणाम हुआ कि राजतंत्र का काल रहा हो या लोकतंत्र का 'जन' और 'तंत्र' अर्थात् नागरिकों और शासन के बीच सार्थक संवाद नहीं बन पाया। इस काल में हिन्दी हमारे जन मानस में तो साम्रज्ञी के रूप में रही पर राजकाज में विदेशी

भाषाओं का ही बोलबाला रहा। जिससे हर भारतीय नागरिक घुटन मेहसूस करता रहता था। स्वतंत्रता के बाद पिछले पाँच दशक में 'राजभाषा' के रूप में हिन्दी को स्थान तो मिला है पर उच्च स्तर पर अंग्रेजी अभी भी अपना कब्जा जमाए हुए है।

नियम कानून, विधेयक, अनुबंध करार आदि अधिकांशतः आज भी अंग्रेजी में बनते हैं, जिन्हें आम आदमी कतई नहीं समझ पाता है। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि अब उक्त सब कुछ द्विभाषी अर्थात् हिन्दी अंग्रेजी में हो रहा है तो यहाँ भी हिन्दी की दुर्दशा विचारणीय है। 'द्विभाषी' सिद्धांत में प्रायः जो भाषा प्रयोग की जाती है वह अनुवाद की भाषा अर्थात् शब्दकोश की भाषा होती है जिससे अनुवाद तो हो जाता है पर व्यक्त भावों की लगभग हत्या हो जाती है। यहाँ एक मजेदार उदाहरण ध्यातव्य है। दूरदर्शन में प्रस्तुति सहायक (सहायक प्रोड्यूसर) का एक आंग्ल भाषा में तो ठीक है, प्रोडक्शन असिस्टेण्ट। हिन्दी में कहीं प्रस्तुति सहायक, कहीं उत्पादन सहायक, कहीं निर्माण सहायक लिख दिया जाता है। आशय अनुवाद कर्ताओं ने 'अंग्रेजी-हिन्दी' शब्दकोश देशे जिसको जो अर्थ जंचा लिख दिया। वस्तुतः भाषा बहता नीर होती है। बहती रहेगी तो निर्मल रहेगी। बहेगी तो अन्य छोटे-छोटे स्रोत मिलते रहेंगे जो भाषा को समृद्ध करेंगे। हिन्दी आज राजभाषा पद पर आसीन है यदि उसे संपूर्ण संकल्प के साथ, सही मंशा में राजभाषा बनाना है तो उदार रवैया अपनाना होगा उसमें 'लोक' को शामिल करना होगा, लोक संस्कृति को सम्मिलित करना होगा। संसार में आज या क्या कभी भी कोई ऐसी भाषा नहीं रही जो स्वयं को शत प्रतिशत शुद्ध कह सके अर्थात् उसमें अन्य भाषाओं के शब्द तो होते ही हैं, रहेंगे भी, क्योंकि भाषा समाज में पैदा होती और सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान करता ही है। हाँ हिन्दी के संदर्भ में यहाँ एक सावधानी रखनी होगी कि हम सुगमता के लिए कार्यालयीन कार्यां में 'जन' की जबान पर चढ़े अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग तो करें पर उसे हिन्दी की जगह हिन्ग्रेजी न बना दें। हिन्दी स्वयं समृद्ध है उसकी सगी बहिनें जिन्हें हम 'ख' क्षेत्रों की भाषाएँ कहते हैं भी काफी समृद्ध हैं इसके बाद भी हमारा लोक तो इतना समृद्ध है कि उसमें किसी भी भाव, विचार को पूर्ण सार्थकता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। जब हम इतने सम्पन्न हैं तो उधार क्यों लें। यहाँ एक बात कहनी और आवश्यक लगती है भाषा कोई भी हो उसके शब्द कैसे भी हों कठिन नहीं होते हैं केवल अभ्यास की आवश्यकता होती है जैसे-जैसे उनसे हमारा परिचय बढ़ता जाता है वे हमें हमारे अपने लगने लगते हैं फिर कठिन या सरल की कोई समस्या ही नहीं रहती।

जिस हिन्दी ने साहित्य-जगत को तुलसी, सूर, कबीर, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसे महाकवि दिए हैं, वह अपने प्रचार-प्रसार के लिए किसी को मोहताज नहीं हैं। उसे किसी की कृपा नहीं चाहिए वह पूरे देश के जनमानस में राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित है और राजभाषा के पद पर भी वह स्वयं के आरूढ़ हो जावेगी। यहाँ नेपाली जी का कथन उल्लेखनीय है :-

बढ़ने दो इसे सदा आगे
हिन्दी जनमन की गंगा है
यह माध्यम उस स्वाधीन देश का
जिसकी ध्वजा तिरंगा है।
हो काम पवित्र इसी सुर में
इसमें हर हृदय तड़पने दो
हिन्दी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो।
बस आवश्यकता है हिन्दी का दीप जलाए रखने की।

2. हिन्दी और हम –

आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन सम्पन्न हो गया है। सरकार यह सोचकर निश्चित ही खुश होगी कि हिन्दी संयुक्त राष्ट्र की भाषा जब बनेगी तब बनेगी अभी फिलहाल उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय के सभाभवन तक तो पहुँचा ही दिया गया है। वे साहित्यकार, भाषाविद्, पत्रकार, राजनेता और हिन्दी के पैरोकार भी खुश होंगे, जो इसी सम्मेलन के बहाने कम से कम विदेश यात्रा तो कर ही आए। जो नहीं जा सके वे अब पत्र पत्रिकाओं में व्यंग्य लिख रहे हैं। तरह तरह की कटूक्तियाँ कर रहे हैं।

यह सत्य है कि हिन्दी केवल एक भाषा ही नहीं है वह हमारी संस्कृति है, हमारी अस्मिता है, हमारी पहचान है। हिन्दी पूरे देश में उत्तर से दक्षिण तक अरौर पूरब से पश्चिम तक, निर्वाधरूप से बोली जाती है, समझी जाती है। इसीलिए हिन्दी हमारी सांस्कृतिक एकता का केन्द्र बिन्दु भी है। जो भारतीय विदेशों में बसे हैं उनकी मातृभाषा कोई भी हो पर उन्हें आमतौर पर हिन्दी भाषी ही माना जाता है। इसी प्रकार जब कोई भारतीय विदेश भ्रमण पर जाता है तब भी उसे समान्यतः 'हिन्दी' ही माना जाता है। इस दृष्टि से अगर देखा जाये तो विदेशों में एकमात्र हिन्दी भाषा ही देश का प्रतिनिधित्व करती है।

यह कहा जाना कि दक्षिण में हिन्दी का विरोध है, कतई सही नहीं है। कुछ राजनीतिक कारणों से वहाँ हिन्दी का किंचित विरोध भले ही हो पर सामाजिक व शैक्षिक स्तर पर रंच मात्र विरोध नहीं है। इतिहास पलटकर देखें तो ज्ञात होता है, कि पूरे देश में आध्यात्म का परचम फहराने वाले, मानवता का संदेश देने वाले अनेक आचार्य दक्षिण में हुए। संत वल्लभाचार्य, संत रामानुजाचार्य यहाँ तक कि संत शिरोमणि शंकराचार्य भी दक्षिण की ही देन हैं, और इन आचार्यों ने निर्विध्न रूप से समूचे देश में अपने पवित्र उपदेश दिए। इन्हें कहीं कोई भाषायी दिक्कत नहीं आई। आचार्य शंकर द्वारा भारत के चारों कोनों में चार पीठों की स्थापना को भी एक प्रकार से पूरे देश में हिन्दी की प्रतिष्ठा का भी आयाम कहा जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से पूरे विश्व में भारत दूसरे क्रम पर है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी वह पीछे नहीं है। उसका व्यापार भी प्राचीन काल से ही लगभग पूरे विश्व में फैला है। इसके अतिरिक्त यह भी सही है कि परतंत्रता काल में भारतीय श्रमिक ''गिरमिटिया मजदूर'' के रूप में में विदेशों में खूब ले जाये गए; तो आज भी संसार के लगभग प्रत्येक देश में भारतीय श्रमिक (शारीरिक श्रम/बौद्धिक श्रम) प्रभूत मात्रा मौजूद हैं। केवल इतना ही नहीं, रोजी रोटी की तलाश में आज भी अनेक युवा विदेशों में जा रहे हैं। आप निश्चित मानिए कि विदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में इनका अनिर्वचनीय योगदान है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अधिकांश महान प्राचीन सभ्यताएँ वास्तव में यूरोप और एशिया महाद्वीपों में ही पनपी। (मय सभ्यता जैसी एकाधिक सभ्यताओं को छोड़कर) अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया तो प्रायः निर्जन थे, आबाद हुए हैं यूरोपीय आबादी से। इसी कारण से महान प्राचीन भाषाएँ भी प्रायः इसी क्षेत्र में पनपी। ग्रीक, लैटिन, संस्कृत ऐसी ही भाषाएँ हैं। संसार की महानतम भाषाओं में से एक संस्कृत की पुत्री होने के नाते, हिन्दी भारोपीय परिवार (इंडो आर्यन फेमिली) की भाषा है। इसी कारण से उत्तर भारत की अधिकांश भाषाएँ पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि हिन्दी की सहोदरा (बहिनें) हैं। किंकिच लिपि-भेद या उच्चारण-भेद को छोड़ दिया जाए तो प्रायः सभी में एक रूपता है। दक्षिण की चारों भाषाएँ तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम यद्यपि एक पृथक परिवार-द्रविड़ परिवार की भाषाएँ हैं पर प्राचीन काल के राजतंत्र के विस्तारों के कारण, धर्म-प्राण साधुओं के प्रचार अभियानों के कारण इनमें भी संस्कृत शब्दों की भरमार है। अतः अच्छा हिन्दी भाषाविद् इन भाषाओं को भलीभांति समझ लेता है।

भारोपीय परिवार विशाल भाषा परिवार है; इसलिए हम देखते हैं, अरबी, फारसी, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, तुर्की, पुर्तगाली, भाषाओं के शब्दों में काफी समानताएँ हैं। संस्कृत का पितृ शब्द फारसी में पिदर, अंग्रेजी में फादर, जर्मन में फादअ हो जाता है। शब्दों का यत्किंचित विश्लेषण करने से ही इन भाषाओं को हिन्दी भाषी और हिन्दी भाषा के शब्दों को उक्त भाषाओं को बोलने वाले आसानी से समझ लेते हैं। इसीलिए जिन देशों में एशियायी यूरोपीय मूल की आबादी अधिक है वहाँ हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने में कोई बड़ी कठिनाई नहीं है। अमेरिकन देशों में भी बढ़ते व्यापारिक, वैज्ञानिक आदान-प्रदान के कारण हिन्दी के फैलाव की अपार संभावनाएँ हैं। वैश्वीकरण का युग है (हमारा देश तो बहुत पहले से ही वसुधैव कुटुम्बकम् कहता आ रहा है) और बाजारवाद का बोलबाला है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भी और जनसंख्या की दृष्टि से भी भारत बहुत बड़ा बाजार है। दूसरी ओर सोफ्टवेयर के क्षेत्र में भारत ने अद्भुत प्रगति की है। इसलिए अमरीकी देशों में भी हमारा बहुत प्रभाव है इस दृष्टि से भी हिन्दी की विश्व-प्रतिष्ठा सहज है। वैसे भी विश्व में चीनी के बाद सर्वाधिक संख्या हिन्दी भाषियों की ही

है। (कुछ विद्वानों का तो मानना है कि वस्तुतः पूरे विश्व में हिन्दी भाषी मंदारिन भाषियों से अधिक हैं।)

कठिनाइयाँ कहाँ हैं? लगता है एक मात्र कठिनाई है– राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी। हिन्दी को 14 सितम्बर, 1949 को देश में राजभाषा का दर्जा दिया गया था, तब से आजतक वह सच्चे अर्थों में राजभाषा नहीं बन पाई। सभी सरकारी कवायदें महज औपचारिकता ही साबित हुई प्रतीत हो रही हैं। ठीक इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी की अधिकारिक भाषा बनाने में भी राजनीतिक पहल व राजनीतिक सक्रियता की ही आवश्यकता है। लगभग सौ करोड़ के व्यय की व्यवस्था और लगभग 100 देशों का समर्थ जुटाना। यह कार्य तो सरकार को ही करना होगा।

हिन्दी को विदेशों में और लोकप्रिय बनाने के लिए औपचारिक प्रयासों के अतिरिक्त कुछ और ठोस कदम उठाने होंगे। कई विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। सरकार उक्त विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति/फैलोशिप दे सकती है, इससे निश्चित रूप से छात्रसंख्या बढ़ेगी। जो विदेशी विद्वान हिन्दी में कार्य कर रहे हैं उन्हें शोध-अनुदान दिये जा सकते हैं; देश में जब तब बुलाकर उन्हें सम्मानित किया जा सकता है और भी उपाय हो सकते हैं।

एक बात और; हम जो लोग हिन्दी भाषी होने की दुहाई देते हैं इनका हिन्दी ज्ञान तो ऐसा होता है कि देखकर आप दाँतो तले उंगली दबाने को बाध्य हो जायेंगे। विद्वानों की बात छोड़ दें तो हमें अन्य भाषाएँ (भारतीय या विदेशी) आती ही नहीं। सीखना भी नहीं चाहते। एक गैर हिन्दी भाषी अपनी भाषा में तो पारंगत होता ही है जब हिन्दी क्षेत्रों में नौकरी करता है या अन्यथा निवास करता है तो हिन्दी भी सीख लेता है लेकिन हमारे पड़ौस में कोई गैर हिन्दी भाषी बरसों से बना रहे; पड़ौस में ही बस जाए पर हम उसकी भाषा नहीं सीख पाते हैं। क्या यह उचित है ?

हिन्दी भाषा-विदों को भी सक्रिय पहल करने की आवश्यकता है। आप सभी जानते हैं कि हिन्दी की लिपि देवनागरी, काफी समृद्ध है, काफी वैज्ञानिक है। इसमें 16 स्वर हैं (यद्यपि अब चलन में 13 ही रह गए हैं) 36 व्यंजन हैं (यद्यपि अब ङ, ञ जैसे वर्णों का अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया है) इसके अतिरिक्त ड़, ढ़, श्र, जैसे वर्ण भी अस्तित्व में हैं। वस्तुतः मानस्वरों का निर्धारण करते वक्त इनका असितत्व उच्चारण की शुद्धता की दृष्टि से हुआ। फिर भी यदि विश्व स्तर पर हिन्दी को आसान बनाने के लिए वर्णों को कुछ और कम किया जा सके तो किया जाना चाहिए।

एक समस्या मात्राओं की भी है– मात्राएँ वर्ण के ऊपर भी लगती हैं, नीचे भी लगती हैं वर्ण के आगे भी लगती हैं, पीछे भी लगती हैं कुछ तो बीच में भी लगती हैं; जबकि अधिकांश भाषाओं में वर्ण के बाद कोई दूसरा वर्ण (स्वर) लगाकर मात्राएँ लगा ली जाती हैं।

हिन्दी में संयुक्त अक्षर—वर्ण के ऊपर वर्ण चढ़ाया जाता है (जैसे पर्व) तो वर्ण के नीचे भी वर्ण मिलाया जाता है (जैसे पृथ्वी या प्रश्न।) लिपि की इन कठिनाइयों को दूर करना चाहिए। महात्मा गाँधी ने इस संबंध में कुछ प्रयोग किये थे, बाद में भी अनेक भाषाविदों ने भी पहले की, लेकिन नतीजा कोई उल्लेखनीय नहीं रहा। यही समस्या शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास के स्तर पर भी है।

एक समस्या अनुवाद की भी है। देशी-विदेशी सभी विद्वान मानते हैं कि अन्य भाषाओं से हिन्दी में जो अनुवाद होते हैं वे ऐसे शब्दकोशीय होते हैं कि इन्हें समझना कठित तो होता ही है इनमें असली की आत्मा भी मर जाती है।

तो यह तो निश्चित है कि भाषाविदों को, हिन्दी की अपेक्षकृत सरल बनाने के लिए कमर कसनी होगी। शासन को चाहिए कि पहले राजभाषा हिन्दी को अपनी प्रतिष्ठा दिलाएँ फिर उसे सार्क देशों की भाषा बनाएँ, फिर संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाएँ। सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ने से ही मंजिल मिलेगी और यदि केवल औपचारिकता करनी हो तो वह तो हम सब कर ही रहे हैं।

हिन्दी है ललाट की बिंदी –

हमारे देश में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था है। लोक तंत्र में शासन जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए होता है। ऐसी स्थिति में ''लोक'' और ''तंत्र'' के बीच सम्वाद का महत्व काफी बढ़ जाता है। संवाद—हीनता से सुचारु शासन नहीं हो सकता और सुचारु शासन के बिना सही जन कल्याण नहीं हो सकता। अच्छे संवाद के लिए आवश्यक है कि शासन, प्रशासन और जनता की भाषा एक नहीं, तो कम से कम एक जैसी अवश्य होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो लोक की भाषा तंत्र नहीं समझ पायेगा और तंत्र की भाषा लोक नहीं समझ पायेगा। चूँकि लोक में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसे सर्वत्र समझा जाता है। अतः सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग आवश्यक है।

रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने कहा है – ''जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा हिन्ह हरि चरित बखाने। कीरति भनिति भूत भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।'' स्पष्ट है कि भाषा (जनभाषा) में रचित साहित्य ही गंगा जी की तरह सबका हितकारी हो सकता है क्योंकि वास्तव में साहित्य, लोक की अभिव्यक्ति होता है, एक प्रकार का संवाद होता है।

आचार्य केशव दास ने अपने सवाहित्य को अधिक लोक व्यापी बनाने के लिए ही उसे भाषा (हिन्दी) में लिखा, उनका कहना है कि यद्यपि हिन्दी में उन्हें पारंगतता प्राप्त नहीं थी –

भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास।
तिन्ह भाषा कविता करी जड़मति केशवदास।।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रायः हर काल में शासन ने और समाज सुधारक संत-महात्माओं, मनीषियों-कवियों ने लोक भाषा का उपयोग ही श्रेयस्कर माना, उसे अपनाया भी।

राजभाषा हिन्दी को संसार की महानतम भाषाओं में से एक-संस्कृत की पुत्री होने का गौरव प्राप्त है, इसलिए यह अत्यंत समृद्ध है। किसी भाषा की समृद्धि मुख्य रूप से उसके शब्द भण्डार से आंकी जाती है। चूँकि हिन्दी में ''समन्वय बनाने'' और ''आत्मसात'' करने की प्रबल शक्ति है, इसलिए इसकी शब्द-संपदा भी अत्यंत विशाल है। हिन्दी में मुख्य रूप से चार प्रकार के शब्द हैं - तत्सम (जो संस्कृत से ज्यों के त्यों आये) तद्‌भव (जो संस्कृत से तो आये पर उनका हिन्दी करण हो गया) देशज (लोक में जन्मे शब्द) और विदेशी (अन्य भाषाओं से आये शब्द) यहाँ उल्लेखनीय है कि चूँकि संस्कृत भारोपीय भाषा-परिवार से है, अतः यूरोप और एशिया की अनेक भाषाओं के शब्द मूल रूप में एक जैसे हैं।

एक तो हमारा देश अत्यंत प्राचीन काल से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत समृद्ध रहा है, दूसरे, प्राचीनकाल से ही भारत के लोग राजनीतिक, व्यापारिक व धार्मिक कार्यों से दूसरे देशों में जाते रहें हैं और विदेशों से भी अनेक राजनयिक, व्यापारी अनुसंधित्सु भारत आते रहे हैं (बाद में तो एक स्थिति ऐसी आई कि देश-विदेशी हुकूमत में ही चला गया था) इन सब कारणों से हिन्दी में देशी और विदेशी भाषाओं के शब्द प्रभूत मात्रा में आ गए जिन्हें कुछ को तो हिन्दी ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया (कैंची, चाकू) और कुछ का हिन्दी करण कर लिया (लालटेन, साईकल आदि)।

हिन्दी की शब्द संपदा विशाल तो है पर इतनी भारी भरकम नहीं कि हर भाव के लिए, प्रत्येक अभिव्यक्ति के अलग अलग शब्द हों। हिन्दी के शब्दों में इतनी शक्ति है कि वे स्थान, समय, वक्ता के अभिप्रेत की दृष्टि से एक ही शब्द द्वारा कई प्रकार के अर्थ अभिव्यक्त कर सकते हैं। अमिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द शक्तियाँ अर्थाभिव्यंजन में कमाल की शक्ति दिखाती हैं।

हमारा लोक भी बहुत समृद्ध है। यहाँ पक्षियों के कलरव से, झरनों की झरझर से, नदियों कल कल से, हवा की मर मर से, प्रकृति-नटी की एक एक गतिविधि से शब्द की व्युत्पत्ति हो जाती है। पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, में जो अनेक बोलियाँ, विभाषाएँ हैं वे हमारी शब्द-सम्पदा के सागर में नित नये ''शब्द-मोती'' उड़ेलती रहती हैं। हिन्दी की एक विशेषता यह भी है कि इसमें संस्कृति का समागम है। जहाँ अंग्रेजी में चाचा, मामा, फूफा, मौसा को सम्बोधित करने के लिए एक ही शब्द ''अंकल'' है, वहीं हिन्दी में अलग अलग शब्द हैं। उनके यहाँ तो एक ही शब्द ''ब्रदर इन लॉ'' साले, बहनोई, साढू भाई सभी के लिए प्रयोग कर लिया जाता है।

हिन्दी की लिपि देवनागरी है। यह भी बड़ी विलक्षण है। स्वर और व्यंजनों का क्रम मनोवैज्ञानिक तो है ही, उच्चारण करने व सीखने के लिए भी माकूल है। अंग्रेजी में ''ए'' के बाद ''बी'' आता है। ''बी'' में ''ब'' है तथा ''ई'' की मात्रा भी है। जरा सोचिए कितनी विसंगति है, जब हमारे स्वर-यंत्र ने अभी ''ई'' को पढ़ा ही नहीं तो ''बी'' का उच्चारण कैसे करेगा। हिन्दी में ऐसा नहीं है। यहाँ पहले स्वरों को क्रमवार सजाया गया है और फिर व्यंजनों को। अंग्रेजी में ए, ई, आई, ओ, यू, पाँच स्वर हैं। सभी प्रकार की मात्राएँ इन्हीं से लगानी पड़ती हैं जब कि इस कार्य के लिए हिन्दी में 16 स्वर हैं जिन्में 13 तो आज भी प्रचलन में हैं। अनुस्वार भी अंग्रेजी की ''एन'' की तुलना में हिन्दी मे - ङ, ञ, ण, न हैं।

हिन्दी का व्याकरण भी उत्कृष्ट है, और पिंगल शास्त्र की तो सानी ही नहीं है। केवल इतना ही नहीं हिन्दी ने अन्य भारतीय भाषाओं के व्याकरण से समन्वय कर नये वाक्य विन्यास को भी आत्मसात कर लिया है– ''आपको कहाँ जाना है'' (आपने कहाँ जाना है)। वस्तुतः व्याकरण जहाँ भाषा की शुद्धता पर बल देता है, वहीं भाषा विज्ञान कहता है कि जन सामान्य ने जिन शब्दों को जिन रूपों में स्वीकार कर लिया है यदि उनसे भावाभिव्यंजन में बाधा नहीं आती है तो उन्हें स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। इसी के अनुरूप आज हिन्दी में ''गण्यमान्य'' (गणमान्य) ''अंतर्राष्ट्रीय'' (अंतर-राष्ट्रिय), ''उपरोक्त'' (उपर्युक्त) जैसे शब्द आम प्रचलन में आ गये हैं। आशय यह है कि हिन्दी-मनीषियों की कोशिश यह रही है कि भाषा को संचरण योग्य (समझने योग्य, जिसे आंग्ल भाषा में ''कम्युनिकेबुल'' कहा जाता है) बनाया जावे, पर भाषा का स्वरूप भी विकृत न होने दिया जावे।

इतनी सामर्थ्यवान होने के बावजूद हिन्दी सरकारी कार्यालयों में अपनी स्थिति उतनी मजबूत क्यों नहीं कर पाई है जितनी कि होनी चाहिए। वह कार्यालयों में गहरी पैठ क्यों नहीं बना पाई, दरवाजे पर ही ठिठक क्यों गई है। इसके अनेक कारण हैं– सबसे बड़ा कारण है, बरसों की राजनीतिक दासता का दंश। फिर स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक व्यवस्था ने भी गति धीमी रखी। अंत में आड़े आई अधिकारियों, कर्मचारियों की मानसिकता। कुछ मनोवैज्ञानिक कारण ही रहे।

कार्यालयों में कुछ लोग सोचते हैं कि अगर हिन्दी का प्रयोग करेंगे तो कमतर समझे जावेंगे। कुछ सोचते हैं कि हिन्दी में पत्र लिखेंगे तो वरिष्ठ कार्यालय में उन्हें कोई पढ़ेगा नहीं या पढ़ पायेगा नहीं जिससे आवश्यक कार्यवाही बाधित होगी। कुछ डरते हैं कि हिन्दी कठिन है, प्रयोग करने से गलती हो जावेगी। कुछ दूसरों के देखा-देखी अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं भले ही वह गलत हो। कुछ सोचते हैं अंग्रेजी-पत्र लिखना सरल होता है क्योंकि पहला पैराग्राफ व अंतिम पैराग्राफ सभी पत्रों में एक जैसा होता है बीच की भाषा, पत्र की विषय-वस्तु के अनुसार लिख दीजिए- हो गया पत्र तैयार। फाइलों (नस्तियों) में भी प्रायः एक बंधी हुई भाषा का प्रयोग

होता है, अतः अंग्रेजी लिखने में सरलता होती है। कुछ सोचते हैं कि हम तो अंग्रेजी की एक निश्चित लेखन पद्धति में ढले हुए हैं। अब अगर हिन्दी लिखेंगे तो मान लो किसी अंग्रेजी शब्द का स्थानापन्न हिन्दी में नहीं सूझा तो क्या होगा। मेरा मानना है कि यह सब भ्रम है। कोई भाषा कठिन नहीं होती। आवश्यकता परिचय और अभ्यास की होती है शब्दों से ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता जावेगा वे हमारे हमजोली होते जावेंगे।... आप एक कदम आगे तो बढ़ाइये, हिन्दी में लिखिए, जहाँ उपयुक्त शब्द न मिले, वहाँ अंग्रेजी शब्द को ही देव नागरी में लिख दीजिए। इस में भी असुविधा हो तो अंग्रेजी शब्द इंग्लिश में ही लिख दीजिए। ... यहाँ कुछ शुद्धतावादी बाधा बनते हैं। उनकी सोच है कि अगर ऐसा होगा तो हिन्दी, हिन्दी नहीं रहेगी। हिंग्लिश या हिंग्रेजी हो जावेगी। मैं ऐसा नहीं मानता। आज भी हिन्दी में ढेरों शब्द पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अरबी, फारसी के हैं, तो क्या हिन्दी कभी हिर्तगाली, हारसी या हरबी बनी। आज हम धोती कुर्ता के स्थान पर पेंट शर्ट पहन रहे हैं, तो क्या हम यूरोपियन हो गए। सबकी बनावट, रंग-रूप, कद-काठी, प्रकृति अलग अलग है अतः कोई एक दूसरा हो ही नहीं सकता। यही स्थिति भाषा के साथ लागू होती है। आज वैश्वीकरण का युग है। प्रायः सभी जगह के लोग एक दूसरे का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, बोल-चाल अपना रहे हैं, ऐसा स्वाभाविक भी है। तो अब ऐसा करने वाले ये लोग बदले नहीं, तो भाषा कैसे बदल जाएगी। हिन्दी में आज गज़ल आ गई, जापानी हाइकू आ गया। तो क्या हिन्दी के गीत बदले, छंद बदले ? यदि यहाँ कुछ नहीं बिगड़ा तो चंद बाहरी शब्द हिन्दी का क्या बिगाड़ लेंगे। हिन्दी बड़ी सक्षम है, इसने कई दंश झेले हैं पर ''सूरदास की कारी कामर पै चढ़ै न दूजौ रंग'' की तरह इसने अपना अस्तित्व बनाये रखा है इसलिए हमें हिन्दी के मूल स्वरूप को बाधित किए बिना अन्य भाषाओं के शब्दों का उपयोग करने में संकोच नहीं होना चाहिए। हाँ अंग्रेजी शब्दो को जानबूझ कर इस प्रकार नहीं ठूंसना चाहिए कि वे पैबंद-से लगें।

एक बात और, ''लोक'' बड़ा चतुर होता है। कभी कभी कई विदेशी शब्दों को ऐसे आत्मसात कर लेता है कि आश्चर्य होता है। म.प्र. के भिण्ड जिले में ''भैरंट'' ''वालटूटर'', ''हिजाईनेस'' ऐसे ही शब्द हैं जो अंग्रेजी के होते हुए भी देशज रूप में खप गए हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि कठिनाई दक्षिण के प्रदेशों में है।... नहीं, बिल्कुल नहीं। कभी किन्ही राजनीतिक कारणों से भले ही वहाँ हिन्दी का विरोध हुआ हो पर आम जन हिन्दी को प्यार करता है।

इतिहास साक्षी है कि भारत में अधिकांश धार्मिक आंदोलन दक्षिण भारतीय आचार्यों ने ही चलाए। जो पूरे भारत में पूरे समभाव से फूले फले। आज भी दक्षिण भारतीय भाषाओं में संस्कृत के शब्द प्रचुरता में मिलते हैं हिन्दी गीतों, हिन्दी सिनेमा की दक्षिण में भी अच्छी पैठ है।

अब समय आ गया है कि हमें बाधाओं के ऊपर उठकर सरकारी कार्यों में राजभाषा हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए ताकि हम जिनके लिए हैं, जिनके लिए कार्य करते हैं, वे हमें जान सकें, हमारी कार्य प्रणाली जान सकें, हमारी गति-प्रगति जान सकें, वे हम में झांक सकें हम उनमें झांक सकें।

सी-9, स्टार होम्स
रोहितनगर, फेस-2
पोस्ट ऑफिस-त्रिलंगा
भोपाल-462039

राष्ट्रभाषा और महात्मा गांधी

–श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्यय

मनुष्यता का मुख्य धर्म है– तेजस्विता, और तेज स्विता में दो तत्व प्रधानरूप से समाविष्ट रहते हैं– 1. स्वतन्त्रता और 2. निर्भयता। फलतः जहां परतन्त्रता और भय है वहां तेजोहीनता; अतएव मनुष्यता का अभाव, स्वयं सिद्ध है। स्वतन्त्रता और निर्भयता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है, नहीं उसकी जन्मजाति स्थिति है। यह प्रकृति का नियम है–ईश्वर की इच्छा है–

पृथ्वी का छोटे से छोटा अणु-परमाणु निसर्गतः स्वतन्त्र है और उन के निश्चित कार्य में अप्राकृतिक रूप से बाधा पड़ना सृष्टि के लिए हानि कर, अतएव अवांछनीय है। इसलिए सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी की स्वतन्त्रता की रक्षा करना उसे सुरक्षित रहने देना प्रकृति की सब से भारी सेवा करना है।

विकास क्रम से मनुष्य प्राणी अब तक की समस्त ज्ञात जीव-सृष्टि में सब से उच्च और उन्नत है। अतएव स्वतन्त्रता और निर्भयता के भाव उस में अन्य समस्त प्राणियों से अधिक होने चाहिए।

समाज और राष्ट्र के निर्माण और संगठन की आवश्यकता केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हो, दूसरे शब्दों में यों कहें कि मानव भाव का अर्थात् स्वतन्त्रता और निर्भयता के भावों का पूर्ण विकास हो। विश्व की सारी मनुष्य जाति भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त है और आदर्शों तथा जीवन के समीपवर्ती उद्देश्यों की एकता कम से कम अनुकूलता, राष्ट्र व्यवस्था का प्राण-शक्ति होती है।

राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रीय एकीकरण या राष्ट्रोन्नति का एक मूल है। भाषा हृदय के भावों का वाहक साधन है। भावों के अनुकूल ही भाषा प्रकृति ने प्राणियों को प्रदान की है। और भावों के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार भाषा में उत्कर्ष और अपकर्ष पाने का धर्म विद्यमान है। और जब कि भावों की, आदर्शों की एकता ही राष्ट्र निर्माण का प्राण है तब भाषा की एकता भी राष्ट्रोन्नति के लिए स्वयं सिद्ध हो जाती है।

मातृ भाषा और राष्ट्र-भाषा में श्रेष्ठता और उपयोगिता की दृष्टि से इतना ही भेद है कि मातृभाषा का सम्बन्ध मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति से है और राष्ट्र-भाषा का सम्बन्ध राष्ट्रीय उन्नति से है। व्यक्तिगत जीवन की विच्छिन्नता, विचित्रता और बहुविधिता क्रमशः होकर

राष्ट्रीय जीवन में उन महत्तम समापवर्तक शेष रह जाता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न उपजातियों, उप-समाजों की मातृभाषाओं के उन अंशों की गुणों की एक वाक्तयता या सामंजस्य राष्ट्र भाषा में हो जाता है जो सब भाषाओं के उन अंशों जो सब भाषाओं में प्रायः समान-रूप से पाये जाते हैं। वे गुण हैं सरलता, सुगमता, सर्व प्रियता और अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि भारतवर्ष में हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही एक ऐसी भाषा है जिस में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओं की एक वाक्यता और सामंजस्य का सबसे अधिक धर्म विद्यमान है और जो बँगला, गुजराती, मराठी, गुरूमुखी, तामिल आदि समस्त प्रान्तीय भाषाओं से अधिक सरल, सुगम और सर्व लोक-प्रिय है, और इसलिए जो भारतीय राष्ट्र की सफल और सुयोग्य राष्ट्रभाषा हो सकती है।

महात्मा गांधी मानवता की प्रतिमूर्ति हैं। उन की आत्मा में मानवी गुणों का जितना उत्कर्ष दिखाई देता है उतना संसार के किसी विद्यमान मनुष्य की आत्मा में नहीं पाया जाता। वे विश्व की उन शक्तियों और आत्माओं में हैं जिनकी कार्य सीमा राष्ट्रीय उन्नति के संकुचित अर्थ तक ही बंधी हुई नहीं है; पर वे राष्ट्र, मनुष्य जाति और विश्व के तारतम्य को भुला देने वाले स्वपन सृष्टि के जीव भी नहीं हैं। उन्होंने सब से पहले अपने भारतीय राष्ट्र की उन्नति के लिये अपने को अर्पण कर दिया। उन की पारदर्शिनी दृष्टि ने उन तत्वों को अवलोकन किया जिन के आधार पर इस पुरातन सनातन विशाल राष्ट्र का उद्धार गौरव के साथ हो सकता है। राष्ट्र भाषा का महत्व उन्हीं रत्नों में से है जो महात्मा गांधी ने अपने दीर्घ विचार सागर में गहरे गोते लगाकर प्राप्त किया है।

आज से 21 वर्ष पहले, सन् 1902 ईस्वी में जब कि यहां भारतवर्ष में हिन्दी भाषा-भाषी परन्तु शिक्षित और उच्च श्रेणी के समझाने वाले लोग अपनी मातृभाषा से बुरी तरह उदासीन थे और विभाषी महानुभावों में शायद कोई भी—मुझे ठीक याद नहीं पड़ता न मेरे पास यहां यह जानने का साधन ही है कि स्वर्गीय जस्टिस शारदाचरणमित्र बड़ौदा के वर्तमान महाराजा साहब तथा स्वर्गीय कृष्ण स्वामी ऐयर और लोकमान्य तिलक उस ज़माने में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर चुके थे य। नहीं— इस विषय में इतने सतर्क थे जितना कि सुन्दर सौराष्ट्र के एक सुन्दर कोने में उत्पन्न, सात समुद्र पार शिक्षित और दीक्षित काले हबशियों के देश में रहने वाला एक गुजराती बनिया उसका प्रत्यक्ष प्रयोग कर के दिखा रहा था। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह-संग्राम और उसके धीर वीर चतुर सेना नायक महात्मा गांधी ने अपने फ़िनिक्स आश्रम से एक समाचार-पत्र चार भाषाओं में निकाला उस का नाम रक्खा गया 'इंडियन ओपिनियन' और अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और तामिल ये चार भाषायें उस में रक्खी गई। कोई चार पांच वर्षों तक हिन्दी विभाग जारी रहा फिर अनेक असुविधा के कारण हिन्दी और तमिल विभाग बन्द कर देना पड़ा पर इन चार भाषाओं का समावेश दक्षिण अफ्रिका की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भी इस बात को अच्छी तरह सूचित करता है कि महात्मा गांधी की दृष्टि

में उस समय भारतीय राष्ट्र निर्माण किस प्रकार प्रच्छन्न बीज के रूप में था और विशेष रूप यह कि हिन्दी भाषा की ओर उन के चित्त का आकर्यण कितने समय से और कितनी अधिक मात्रा में था। दक्षिण अफ्रिका में रहते हुए अपने साथियों और विशेष कर के 'इंडियन ओपिनियम' के सम्पादकीय विभागों वालों को हिन्दी सीखने पर वे बहुधा ज़ोर दिया करते थे और अपने भतीजे श्रीयुत छगनलाल गांधी से कई लेख हिन्दी में लिखवा कर 'इण्डियन ओपिनियन' में छपाये थे। दक्षिण अफ्रिका को यदि हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों के निवास की दृष्टि से एक छोटा सा हिन्दुस्तान ही कहें तो अनुचित न होगा। वहां मदरासी, गुजराती, मुसलमान और उत्तर भारतीय प्रायः सब प्रकार के भारतीय जा बसे हैं। उन के अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन खड़ा करते समय सब के लिए सुगम सब के लिए कार्यसाधक, एक सामान्य भाषा की आवश्यकता महात्मा जी को दिखाई और इस के लिए इन्होंने हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा को ही चुना और फिर सारे भारतीय राष्ट्र के लिए भी उन्होंने उसी को उपयुक्त राष्ट्र भाषा स्वीकार किया। अपने 'इण्डियन ओपिनियन' के गुजराती विभाग में ''राष्ट्र भाषा'' पर कभी-कभी आप लेख भी लिखते थे।

गत 1909 ईसवी के अक्टूबर में राजकोट में गुजरात साहित्य परिषद की बैठक होने वाली थी उसको प्रोत्साहन देने के लिए लन्दन में सर मंचर जी भावनगरी के सभापतित्व में गुजराती भाषियों की एक सभा हुई थी। उसमें एक प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए महात्मा गाँध ी ने अपने गुजराती व्याख्यान के आरम्भ में कहा था—

''हिन्दूस्तान में आजकल नई हवा बह रही है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यह सब 'मेरा देश अथवा 'हमारा देश' इनका जप कर रहे हैं इस मौके पर हम राजनैतिक दृष्टि से चाहे विवेचन न करें परन्तु भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हमें तुरन्त ही मालूम हो जायगा कि हार्दिक भाव से 'हमारा देश शब्दों का उच्चारण करने के पहले हमें भाषा का अभिमान अवश्य पैदा करना होगा। मैं तो समझता हूं कि भारतवर्ष छोटे बड़े सब लोग अपनी भाषा की सुध लेने लग गये हैं। यह बात सन्तोष जनक है। ऐसे भी उदगार सुनाई देते हैं कि भारतीय राष्ट्र के लिये कोई एक सामान्य भाषा होनी चाहिये। आगे चल कर शायद यह सिद्ध भी हो जाय। इस बात को तो सब लोग क़वूल कर लेंगे कि वह भाषा हिन्दूस्तान की ही होना चाहिए ×× प्रत्येक प्रान्त के अग्रणियों को दूसरे प्रान्त की भाषाएं जाने बिना छुटकारा नहीं है।''

स्वयं महात्मा जी ने टूटी फ़ूटी हिन्दी पढ़ ली थी और हिन्दी भाषियों के साथ वे प्रायः हिन्दी में पत्र व्यवहार करते थे। 1910 ई. में लिखे ऐसे जो पत्रों की नकल यहां दी जाती है ये पत्र फिजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष के लेखक पं. तोताराम जी सनाढ्य को लिखे गये थे और उन की पूर्वोक्त पुस्तक में प्रकाशित भी हुये हैं—

पहला पत्र

श्रावन बदी 8 सं. 1937

आप का खत मिला है। वहां के हिन्दी भाइयों का दुख की कथा सुन के मैं दुखी होता हूं। यहां से कोई वैरिस्टर को भेजने का मौका नहीं है। भेजने जैसा कोई देखने में भी नहीं आता है।

जो इहां पर उस का बयान मुझ को भेजते रहना मैं वह विलायत तक पहुंचा दूंगा।

स्टीमर की तकलीफ का ख्याल मुझे बराबर यहां पाता है। यह सब बातों के लिये वहां कोई इंगरेजी पढ़ा हुआ स्वदेशाभिमानी आदमी होना चाहिये।

कोई मेरे ख्याल में आवेगा तो मैं भेजूंगा।

आप का दूसरा खत की राह देखूंगा।

मोहनदास करमचन्द गांधी का यथायोग्य पहुंचे।

दूसरा पत्र

आप का पत्र मिलता है। मि. मणिलाल डॉक्टर के लिए मैंने तार भेजा था। उस का जवाब आप ने न भेजा। इस पर मैं समझा कि आप लोग उस को मुक्त करने में राज़ी न थे। दूसरे संबंधों के लिये भी मणिलाल जी ने फिजी ही जाने का निश्चय किया। गत शुक्र के रोज यह भाई केप से निकाल चुके हैं आप को तार भी दिया हूं आस्ट्रेलिया हो कर वहां पहुंचेंगे।

मेरी उम्मीद है आप के सब अब राजी होवेंगे और मि. मणिलाल जी की अच्छी तरह बरदास्त करोगे। उन का रहना खाने का बन्दोबस्त वहां के लोगों ने हाल तुरन्त में करना चाहिए। सब भाइयों का उत्तेजन मिलेगा तो अवश्य मि. मणिलाल जी वहां स्थायी बनेंगे।

फेर कुछ लिखना होगा तो लिखना।

हिन्दी पत्रों में महात्मा जी तिथि तक देशी ही लिखते थे, यह बात तो पूर्वोक्त पत्र से ही स्पष्ट हो जाती है पर मैंने देखा है कि हिन्दूस्तान में वे हिन्दी पत्रों पर पता और मुकाम का नाम की हिन्दी ही भाषा में लिखा करते थे।

1914 ई. में महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह में विजयी हो कर अपनी मातृ भूमि को लौट आये। यहां आने पर हिन्दी भाषियों के साथ आप बहुधा हिन्दी में ही बोलते थे; सार्वजनिक कार्यकर्ताओ और नेताओं को जिन की मातृभाषा हिन्दी नहीं है या हिन्दी होते हुये भी अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करते थे वे अक्सर हिन्दी की सिफ़ारिश किया करते। भाषण भी वे प्रायः अपनी हिन्दी में ही करते थे। भारत में आने के बाद 1915 ईसवी में उन का सब से पहला हिन्दी भाषण गुरूकुल कांगड़ी में हुआ था। फिर मैंने 1916 में उन्हें लखनऊ में राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के समय हिन्दू महासभा में स्वयं महासभा में तथा एक लिपि-प्रचार परिषद के सभापति की हैसियत से हिन्दुस्तानी में भाषण करते हुए सुना। महासभा में तो एक प्रस्ताव उपस्थित करते हुये मदरासी भाइयों को कड़ा नोटिस दिया कि एक साल के भीतर आप

को भारत की राष्ट्र भाषा इतनी अवश्य जान लेनी चाहिए कि आशय समझलें, अन्यथा अगली महासभा में मेरे भाषण से आप लाभ न उठा पावेंगे और सचमुच दूसरे वर्ष की महासभा में फिर आपने इस बात की याद की उन्हें दिलाई और प्रेमपूर्वक उलहना भी दिया। एक लिपि विस्तार परिषद में किया आप का भाषण कई जगह छप चुका है फिर भी उस के सारांश देने के मोह को मैं नहीं रोक सकता।

आप ने कहा मैं ''गुजरात से आया हूँ। मेरी हिन्दी टूटी-फूटी है। तथापि मैं हिन्दी ही में आप से बोलता हूँ। मुझे आप को हिन्दी का गौरव समझाने की आवश्यकता नहीं। मुझ से हिन्दी का गौरव जानने की आप की इच्छा वैसी ही होगी जैसी कि गंगा में नित्य स्नान करने वाले मनुष्य का किसी से उसका महात्म्य पूछना।''

फिर आप ने हिन्दी प्रचार के लिए ''क्रिश्चियन लिटरेचर डिपो' और 'बाइबिल सोसायटी' की नीति पर काम करने की आवश्यकता बताते हुए इस बात पर जोर दिया कि बाहरी लोगों को हिन्दी पढ़ाने का सुभीता और यथोचित प्रबन्ध करें। आप ने कहा— जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार क्रम है, वहां हिन्दी पढ़ाने वालों की बड़ी कमी है। मैं स्वयं हिन्दी सीखना चाहता था। पर अहमदाबाद में कोई हिन्दी ज्ञाता शिक्षक न मिला। मिला बेचारा एक गुजराती भाषी जिस ने 15-20 वर्ष काशी में रह कर टूटी फूटी हिन्दी सीखी थी। (उसी से मैंने हिन्दी सीखी थी)। आप बाहर जा कर लोगों को हिन्दी सिखाइए तथा सरकार भी आप की बात सुनेगी।''

इसके बाद आपने कहा कि हां, मैं मानता हूं कि अंगरेजी न जानने के कारण कभी कभी वृथा ही बहुत कष्ट उठाना पड़ता है— मुझे भी रेलवे में हिन्दी बोलने के कारण धक्के खाने पड़ते हैं; पर काम करने वाले इस बातों की परवा नहीं करते। लोग कहते हैं कौन्सिलों में अंगरेजी की पूछ है। वाइसराय अंगरेजी के सिवा दूसरी भाषा नहीं समझते। इस पर मैं कहता हूं कि यदि मैं बोलना जातना हूं और मेरे कथन में कोई ऐसी बात है जिससे वाइसराय लाभ उठा सकें तो वे अवश्य ही मेरी बातें हिन्दी में होने पर भी सुनेंगे।''

इस भाषण से उन से राष्ट्र भाषा विषयक प्रौढ़ और दृढ़ विचारों का पता अच्छी तरह लगता है और 1918 में युद्ध-परिषद् में जो तत्कालीन बड़े लाट लार्ड चेम्सफोर्ड के सभापतित्व में कहुई थी। आप ने युद्ध में सहायता देने के प्रस्ताव का समर्थन राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी में कर के अपनी तेजस्विता और राष्ट्रभाषा प्रेम का उज्जवल उदाहरण पेश किया था।

1916 ईसवी से भारतीय राजनीति के क्षितिज में आप का उदय क्रमशः वेग के साथ होने लगा। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी और उस के बाद चम्पारन प्रकरण, ने उन के महत्व के लोगों की दृष्टि में एकदम बढ़ा दिया। वे देश में भिन्न-भिन्न सार्वजनिक आन्दोलनों में काम लेने

लगे। उन के सारे कार्यक्रम और कार्य प्रवाह में विदेशी शिक्षा और भाषा पर मुख्य रूप से कटाक्ष होने के कारण शिक्षा और भाषा की दिशा में भी उनका पूरा पूरा ध्यान जाता था।

1916-17 ईसवीं के शिक्षा, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा आदि विषयों पर आप ने गुजराती के पत्रों में कुछ अच्छे-अच्छे लेख लिखे, भारत भर में स्थान-स्थान पर कितने ही व्याख्यान दिये। इस समय दो व्याख्यान खात तौर पर उल्लेखनीय हैं।

दूसरी गुजरात-शिक्षा परिषद भड़ौच के सभापति की हैसियत से आपने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गंभीर और विवेचनात्मक भाषण किया जिसमें शिक्षा के हर पहलू पर अपनी स्वतन्त्र चिकित्सक दृष्टि से आप ने विचार किया था उस में राष्ट्रभाषा के संबंध में आप के जो उद्‌गार प्रकट किये थे उनका सार यहां देना आवश्यक है—

''कितने ही स्वदेशाभिमानी विद्वान कहते हैं कि राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी होनी चाहिये। उनकी दशा को देखते हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, पर यदि ज़रा गहरा विचार करें तो मालूम हो जाता है कि अंग्रेजी हमारी राष्ट्रीय भाषा नहीं हो सकती, न होनी चाहिये। राष्ट्रीय भाषा में ये पांच लक्षण होने चाहिए—

(1) वह भाषा राज्य-कर्त्ताओं के लिए सुगम हो।

(2) उस के द्वारा भारतवर्ष का पारस्परिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवहार चल सके।

(3) उस को भारत के अधिकांश लोग बोलते हों।

(4) वह सारे राष्ट्र के लिये सुगम हो, और—

(5) उस भाषा का विचार करते समय उस की क्षणिक या अस्वस्थायी दशा पर जोर न दें।

पहला लक्षण अन्त में रखना चाहिये था पर ऐसा आभास होता है कि यह लक्षण अंग्रेजी पर घटता है। इसलिये उसे मैंने सब से पहला स्थान दिया है। यहां के शासन संगठन की मूल भूत कल्पना के अनुसार यहां का अंग्रेजी शासक वर्ग दिन पर दिन कम होते हुए बड़े लाट या दूसरे उंगली पर गिनने लायक अंग्रेजी अधिकारी यहां रह जायंगे और आज भी यहां के राज कर्मचारी अधिकांश में भारतवाती ही हैं और उनकी संख्या दिन पर दिन बढ़ती जायगी। और तो यह सब को मानना होगा कि उस वर्ग के लिए भारत की किसी भी भाषा की अपेक्षा अंग्रेजी कठिन है।

अंग्रेजी को दूसरे, तीसरे और चौथे लक्षणों के भी स्पष्टतः अयोग्य बताते हुए पांचवें लक्षण के विषय में आपने अंग्रेजी की क्षणिक सत्ता बताते हुए कहा कि चिरस्थायी स्थिति तो यह है कि भारत के राष्ट्रीय कार्यों में अंग्रेजी भाषा की ज़रूरत बहुत ही कम रहेगी। साम्राज्य के राज्य व्यवहार की भाषा चाहे भले ही अंग्रेजी हो, पर राष्ट्र की भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती।''

फिर आपने हिन्दी भाषा को ही उपर्युक्त पांच लक्षणों से युक्त बताते हुए उसी को राष्ट्रभाषा पद के योग्य बताया और उस की यह व्याख्या की कि जिस भाषा को उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं तथा जो देवनागरी अथवा उर्दू लिपियों में लिखी जाती है वह हिन्दी है।

अन्त को भारत की दूसरी तमाम प्रान्तिक भाषाओं से हिन्दी को अधिक सरल सुगम, और कार्य-साधक सिद्ध करते हुए मदरासियों की कठिनाई के सम्बन्ध में कहा– मैंने देखा है कि द्रविड़ प्रान्तों में भी हिन्दी की ध्वनि सुनी जाती है। यह कहना ठीक नहीं है कि मदरास में तो अंग्रेजी के ही द्वारा काम चलता है। वहां भी मैने अपना काम हिन्दी में चलाया है। सैकड़ों मदरासी यात्रियों को मैंने दूसरों के साथ हिन्दी बोलते हुए देखा है। और मदरास के मुसलमान तो हिन्दी ठीक ठीक बोलना जानते हैं। यहां यह याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू बोलते हैं और हर प्रान्त में उन की संख्या कोई ऐसी वैसी नहीं है।

इस प्रकार हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा के पद के लिए निर्माण हो चुकी है। उसे हमने कितने वर्ष, पहले राष्ट्रीय भाषा के तौर पर इस्तेमाल की है। उर्दू की उत्पत्ति भी हिन्दी की इसी शक्ति के द्वारा हुई है।

इसी साल बिहारी धाम सम्मेलन के सभापति का आसन भी आप ने सुशोभित किया था। उस अवसर पर अपने भाषण में आप ने कहा–इस सम्मेलन का काम इस प्रान्त की भाषा में जो कि आप की राष्ट्रीय भाषा भी हे, चलाने का आप ने निश्चय किया है। इसके द्वारा आप ने अपनी दीर्घ दृष्टि का परिचय दिया है जिस के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं। मैं आशा रखता हूं कि आप इस प्रथा को जारी रखेंगे।

हम ने मातृ भाषा का अनादर किया है। इस पाप का कुफल हमें अवश्य भोगना पड़ेगा। मातृ भाषा का अनादर माता के अनादर के समान है। जो मातृ भाषा का अनादर करता है वह अपने को स्वदेश भक्त कहलाने की योग्यता नहीं रखता। कितने ही लोग कहते हैं, कि हमारी भाषा में ऐसे शब्द नहीं है जिन के द्वारा हम अपने उच्च विचार प्रदर्शित कर सकें। पर सज्जनों, यह भाषा का दोष नहीं। यदि हम मातृ भाषा की उन्नति न कर सकें और यदि हमारा यह सिद्धान्त हो कि अंग्रेजी के द्वारा ही ऊँचे विचार प्रकट किये जा सकते हैं तो इस में ज़रा भी शक नहीं कि हम हमेशा गुलाम बने रहेंगे। जब तक हमारी मातृ भाषा में हमारे तमाम विचारों को प्रदर्शित करने की शक्ति न आवेगी और जब तक वैज्ञानिक विषय मातृ भाषा के द्वारा नहीं पढ़ाये- समझाये जा सकते तब तक राष्ट्र को नवीन ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता यह तो स्वयं सिद्ध है कि–

1. समस्त जनता को नवीन ज्ञान की आवश्यकता है।
2. समस्त जनता, अंग्रेजी कभी नहीं समझ सकती।

३. अंग्रेजी पढ़ने वाला ही नवीन ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अतएव समाज जनता को नवीन ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। इसका अर्थ यह कि यदि पहले दो पद सच हों तो राष्ट्र का नाश अवश्यम्भावी है। पर इस में भाषा का दोष नहीं। तुलसीदास जी अपने दिव्य विचार हिन्दी भाषा में ही प्रदर्शित कर सके हैं। रामायण जैसे ग्रन्थ बहुत ही कम है। मानसरोवर से निकलती हुई गंगा का प्रवाह जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सुवर्ण की तरह चमकता है उसी प्रकार भारत भूषण मालवीय जी का हिन्दी व्याख्यान भी झलकता है। मैंने कितने ही मौलवियों को धर्म बोध करते हुये सुना है। वे बड़ी आसानी से अपने गम्भीर विचार अपनी मातृभाषा के द्वारा प्रकाशित कर सकते थे। तुलसीदास जी की भाषा सम्पूर्ण है, अविनाशिनी है। इस भाषा में यदि हम अपने विचार न प्रकट कर सकें तो इस में दोष हमारा ही है।

इसी साल दिसम्बर में महासभा के अधिवेशन के समय कलकत्ते में एक लिपि-विचार परिषद की बैठक लोकमान्य तिलक महाराज के सभापतित्व में हुई थी। उसमें आप ने बड़े नम्र परन्तु दृढ़ भाव से अपनी हिन्दी में उलहना दिया—''सभापतित्व जी के व्याख्यान से मैं सुखी दुखी दोनों हुआ हूं। क्योंकि आपने आज जो विद्वतापूर्ण बातें कही हैं वे यदि हिन्दी में कहीं गई होतीं तो कितना लाभ होता। परन्तु हमारे हृदय में उन के प्रति ऐसी श्रद्धा और आदर का भाव है कि हम उनके दर्शन ही से तृप्त हो जाते हैं पर हमें इस बात की भी तृष्णा है कि उन में जो बातें है वे हम में भी आ जाय, इसलिए उन के लिए हिन्दी सीख लेना कोई कठिन नहीं है, जब कि लार्ड डफफिर और महारानी विक्टोरिया ने हिन्दी सीख ली थी। स्वराज्य के लिए सब से बड़ा आन्दोलन तिलक महाराज कर रहे हैं। आप बड़े हैं। आप सहज ही में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना सकते हैं। कांग्रेस का काम हमारे हाथ में है। उसमें यदि हमारे सभापति जी और मालवीय जी महाराज सहायता करेंगे तो आगामी कांग्रेस में हमें अंग्रेजी शब्द सुनने में नहीं आवेंगे। मालवीय जी से मेरी एक प्रार्थना और है। वह यह है कि आप ने कांग्रेस में हिन्दी में भाषण क्यों न किया? सरकार के पास पीछे जांयगे। पहले अपने घरवालों को तो देख लें। अंग्रेजी को सब लोग नहीं समझ सकते पर मेरी इस हिन्दी को चाहे वह टूटी फूटी है, सब लोग समझ तो रहे हैं। एक ओर हमारे बच्चे मर रहे हैं पर बिना अंग्रेजी समझे उन्हें कोई चारा नहीं। जब हमारे नेता लोग हिन्दी में अपने विचार फैलावेंगे तो अंग्रेजी भाषा को फिर कौन पूछेगा?''

खानगी तौर पर तो प्रायः हर एक नेता से हिन्दी बोलने और सीखने का अनुरोध किया करते थे।

माननीय सी.वाई. चिन्तामणि को आप ने कितनी ही बार समझाया है और शर्मिन्दा किया है कि इतने बरसों तक प्रयाग में रहते हुये भी आप हिन्दी बोलना नहीं जानते। ऐसा तो कितनी ही बार हुआ है कि महात्मा जी हिन्दी में बोल रहे हैं और उनके साथ हिन्दी भाषी अंग्रेजी

में या आधी अंग्रेजी और आधी हिन्दी में बात करते हैं। यहां तक कि पूजनीय मालवीय जी को वे कभी कभी कह देते कि अच्छा यदि दिक्कत होती हो तो आप अंग्रेजी में अपने विचार प्रकट कीजियेः पर खुद हिन्दी में ही बोलते।

सत्याग्रहाश्रम की स्थापना आपन ने 1915 ईसवीं में की। वहां हर एक सती पुरुष और बच्चे के लिए हिन्दी जाना अनिवार्य था। और आज जो गुजरात से ''संलग्न समस्त राष्ट्रीय पाठशालाओं में (2) दरजे तक हिन्दी पढ़ाना अनिवार्य है और (3) दरजे तक हिन्दी पढ़ाने की खास व्यवस्था है। आज सत्याग्रहाश्रण में के भी ऐसा बालक या बूढ़ा न मिलेगा जो हिन्दी में कार्य न कर सकता हो और ऐसे तो कई सज्जन हैं जो हिन्दुस्तानी में (इसी हिन्दीमय वायुमण्डल का यह परिणाम है जो उत्सुक रहते हुये भी अभी तक गुजराती बोलने का अच्छा अभ्यास मुझे न हो पाया क्योंकि मेरा सब काम हिन्दी में चल जाता है।)

व्याख्यान भी दे सकते हैं। गुजरात महाराष्ट्र और मदरास में आज जो हिन्दी के प्रति प्रेमादर है और उसका विचार दिन पर दिन अधिकाधिक हो रहा है उस का प्रायः सारा श्रेय महात्मा जी के ही सतत प्रयत्न को है।

इन्दौर के अष्टम हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर सभापति की हैसियत से मदरास के हिन्दी प्रचार के जिस जो दीर्घ उद्योग आप ने किया वह केवल हिन्दी भाषा के इतिहास में ही नहीं वरन भारत की राष्ट्रीय जागृति के इतिहास में भी अमर रहेगा।

पांच वर्ष पहले किसने सोचा होगा कि मदरास जैसे प्रान्त से हिन्दी में साप्ताहिक और याक्षिक पत्र का निकलना भी सम्भावनीय है। ''भारत तिलक'' (साप्ताहिक) के सम्पादक को यदि 124 धारा का शिकार न हो जाना पड़ता तो ''हिन्दी प्रचारक'' (मासिक) के साथ वह राजनैतिक मार्ग से राष्ट्रभाषा का प्रचार करने में खूब सहायक होता।

इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति के मंच से आप ने जो छोटा पर मार्के का व्याख्यान पढ़ सुनाया है उसको उद्धृत करने की यहां आवश्यकता नहीं है उस में की राष्ट्र भाषा के भिन्न भिन्न पहलू पर उन्होंने अपने अनमोल विचार प्रकट किये हैं और हिन्दी भाषियों में सुप्रसिद्ध हैं। व्याख्यान तैयार करने की हालत का कुछ वर्णन न यहां कर देना मनोरंजक होगा। यद्यपि महात्मा जी ने पिछले साहित्य सम्मेलनों की रिपोर्ट मंगा ली थी पर खेड़ा आन्दोलन में लगे रहने के कारण रतलाम स्टेशन तक उनका कुछ भी उपयोग वे न कर सके। रतलाम से इंदौर कोई 40-50 मील है और अहमदाबाद से आते समय वहां गाड़ी बदलनी पड़ती है। वहाँ उन के मंत्री भाई महादेव देसाई ने उन्हें भाषण तैयार करने की याद दिलाई। वे लिखाने बैइ गये। महादेव भाई लिखने लगे। महादेव भाई उस समय हिन्दी इतनी जानते थे कि महात्मा जी की हिन्दी को भी अधिक अशुद्ध कर देने में सहायक होते थे। इन्दौर पहुंचने तक व्याख्यान तैयार हो गया; पर भाषा की दृष्टि से वह महात्मा जी को पसन्द न आया, तब श्री रमाकान्त मालवीय की कलम ने उसे

वर्तमान रूप में परिणत किया। इस से महात्मा जी की दृढ़ निश्चय, कार्यलीनता और कार्य-शक्ति का पता चलता है। और राष्ट्रभाषा के प्रचार का उत्साह तो स्पष्ट ही दिखाई देता है। क्या हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो सकती है? इस पर भारत के भिन्न भिन्न विद्वानों से जो सम्मतियां मंगाने की व्यवस्था आप ने की थी उसकी उपयोगिता का उल्लेख भी यहां कर देना आवश्यक है।

हिन्दी में महात्मा जी को तुलसीदास जी का रामचरित मानस बड़ी ही प्रिय है। 1901 में आप रामायण पढ़ने लगे और जब तक रामायण का भजन पठन फीनिक्स आश्रम में हुआ करता। आज भी यहाँ आश्रम में प्रार्थना के समय हिन्दी भजना का खूब रसास्वादन मिलता है।

महात्मा जी के हिन्दी भाषण सुनने का सौभाग्य तो उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक बड़े शहर और उस के आसपास के लोगों को मिला होगा। वे उतनी ही खूबी और प्रभाव के साथ हिन्दी में अपने भावों को व्यक्त कर सकते हैं और उन के इस हिन्दी प्रेम का परिणाम उन के सब से छोटे पुत्र भाई देवदास गाँधी पर तो इतना हुआ है कि उन्हें हिन्दी बोलते हुए या भाषण करते हुए भाषा के द्वारा, सहसा कोई नहीं पहचान सकता कि ये गुजराती हैं।

राष्ट्रीय महासभा में हिन्दी का प्रवेश उन्हीं के परिश्रम का फल है। उन्हीं के आवाज उठाने के बाद अंग्रेजी भाषा के भोजन से पली पुसी महासभा में हिन्दी के भाषण सुनाई देने लगे और महासभा की विषय निर्वाचिनी समिति में हिन्दुस्तानी की भरमार रहने लगी थी। राष्ट्र भाषा के प्रवेश के बदौलत ही महासभा जनता की महासभा हुई है। महासभा की तमाम कार्रवाई हिन्दी में होने के विषय में देहली की महासमिति में इस सम्मेलन के सुयोग्य सभापति बा. पुरुषोत्तम दास जी टण्डन ने प्रस्ताव उपस्थित किया था। उस पर महात्मा जी के 'यंग इंडिया' में नीचे लिखी टिप्पणी लिखी थी, जिसे मैं 13 नवम्बर, 1921 के हिन्दी नवजीवन' से यहा उद्धृत करता हूं—

''अखिल भारतवर्षीय महासभा समिति में हिन्दुस्तानी अर्थात् सर्वसाधारण की भाषा-बड़ी तेजी के साथ विचार-प्रकाशन का माध्यम होती जा रही है। समिति में ऐसे कई सदस्य हैं जो अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं समझते और मदरास इलाके के कई सदस्य ऐसे हैं जो हिन्दुस्तानी नहीं समझ पाते बंगाल के सदस्य कुछ कठिनाई के साथ हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। वे हिन्दी भाषा में बोलने की आवश्यकता को मानते भी हैं और जब समिति की कार्यवाही हिन्दी में चल रही थी तब उन्होंने उस पर कोई आपत्ति नहीं की। किन्तु द्राविड़ भाइयों के लिए तो वह एक प्रकार का सचमुच त्याग ही था। गत अधिवेशन में मद्रास के सिर्फ एक ही सदस्य उपस्थित थे और मलावार से भी अधिक लोग नहीं आ सके थे। किन्तु जब सब द्राविड़ सदस्य उपस्थित हों तब तो सचमुच बड़ी भारी कठिनाई होगी, परन्तु फिर भी उसे हल करने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता; कि द्राविड़ भाई जितनी जल्दी हो सके काफी हिन्दुस्तानी पढ़ लें। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते उन से वो यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे अंग्रेजी पढ़ लें, और अब

तो सार्वजनिक संस्थाओं की नीति अधिकाधिक यही होनी चाहिए कि उनके ऐसे ही सदस्य रहें जो अंग्रेजी न जानते हों। इसलिये, हिन्दुस्तानी के भावनात्मक अथवा राष्ट्रीय महत्व की बात तो जाने दी दीजिये, यह आवश्यकता तो दिन-ब-दिन अधिकाधिक मालूम होती जा रही है कि राष्ट्र के तमाम कार्यकर्ताओं को हिन्दुस्तानी पढ़ लेना चाहिये और राष्ट्र की तमाम कार्यवाही हिन्दी में ही होना चाहिये।''

यह अच्छी तरह प्रकट होता है कि महात्मा जी द्राविड़ प्रान्तों में तथा महासभा में हिन्दी के प्रवेश और आदर प्राप्त कराने में कितने प्रयत्नशील और कितने उत्सुक रहते थे।

राष्ट्रभाषा के आदर और प्रचार की दृष्टि से महात्मा जी का सब से अन्तिम प्रयत्न है ''हिन्दी नवजीवन''। यद्यपि महात्मा जी को स्वयं उसमें लिखने का अवकाश तो नहीं मिलता था 'यंगइंडिया' और 'नवजीवन' के लेखों का अनुवाद ही प्रायः उसमें रहता था, तथापि छः ही सात महीने में उसकी ग्राहक संख्या 12000 हो गई थी और दस्त-ब-दस्त वह कोई 50000 हजार हाथों में पहुंच जाता था। मदरास, महाराष्ट्र, गुजरात, आसाम, बंगाल, वर्मा तथा विदेशों में भी राष्ट्रभाषा के द्वारा उनके सन्देश पहुंचते थे और अब भी थोड़े बहुत अंशों में पहुंचते हैं। पहले अंक के लिए महात्मा जी ने जो आरम्भिक लेख लिखा था उसमें आप लिखते हैं—

''यद्यपि मुझे मालूम है कि ''नवजीवन'' को हिन्दी में प्रकाशित करना कठिन काम है। तथापि मित्रों के आग्रहवश और साथियों के उत्साह से ''नवजीवन'' का हिन्दी अनुवाद निकालने की धृष्टता मैं करता हूँ। मेरे विचारों पर मेरा प्रेम है। मेरा विश्वास है कि उन के अनुकरण से जनता को लाभ है। इसलिए उनको हिन्दी में प्रकट करने की इच्छा मुझे बहुत समय से थी। किन्तु आज तक परमात्मा न उसे सफल नहीं किया था। हिन्दुस्तानी को भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न मैं हमेशा करता आया हूँ। हिन्दुस्तानी के सिवा दूसरी भाषा राष्ट्र भाषा नहीं हो सकती। इसमें कुछ भी शक नहीं। जिस भाषा को करोड़ों हिन्दू मुसलमान बोल सकते हैं वही अखिल भारतवर्ष की सामान्य भाषा हो सकती है और उस से जब तक ''नवजीवन'' न निकाला गया तब तक मुझे दुख था''

''राष्ट्र भाषा और महात्मा गांधी'' विषय पर लेख लिखते समय तीन प्रश्न प्रधानतः उपस्थित होते हैं—

1. महात्मा जी का ध्यान राष्ट्र भाषा के महत्व की ओर क्यों गया? हिन्दी को ही उन्होंने राष्ट्र भाषा के योग्य क्यों समझा? उस के सम्बन्ध में उन्होंने कहाँ कहाँ क्या चर्चा की और क्या प्रयत्न किया? पूर्वोक्त लेख में मैंने अपनी अल्पमति और शक्ति के अनुसार जो कुछ विवेचन और वर्णन किया है उस में इन तीनों प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर आ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी यदि रामचरित मानस की रचना कर के यह साबित कर गये हैं कि हिन्दी भाषा में भाववाहन का कितना सामर्थ्य है तो महात्मा जी ने अपने आचरण और प्रयत्न के द्वारा जिनका उल्लेख ऊपर

किया गया है, यह साबित कर दिया है कि हिन्दी ही अकेली और अवश्य राष्ट्र भाषा हो सकती है और द्राविड़ जैसे प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रवेश यत्न करने पर असाध्य नहीं है।

''सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुष्करम्''

साभार : सम्मेलन पत्रिका

भाषा, संस्कृति और वैश्विक हिन्दी

—छबिल कुमार मेहेर

1

भाषा और देश की जातीय संस्कृति

भाषा केवल विचारों का माध्यम भर नहीं, वह हमारी स्वाधीन चेतना का प्रतीक भी है, इस अर्थ में भाषा हमारे समस्त अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की पहचान होती है। भाषा और संस्कृति का नाता अन्योन्याश्रित है। वास्तव में भाषा अपने आप में एक संस्कृति ही है, जिसके भीतर भावनाएँ, विचार और सदियों की जीवन-पद्धतियाँ समाहित हैं। भाषा ही परम्परा और संस्कृति से जुड़े रहने का एक मात्र साधन है। स्पष्ट है कि भाषा किसी देश की जातीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण उपादान है। एक अर्थ में संस्कृति की अधिरचना का आधार है भाषा। बकौल महादेवी वर्मा 'भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बँधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सावधानी से किसी देश के भाषाई और जातीय अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन किया था— 'किसी देश के साहित्य का सम्बन्ध उस देश की सांस्कृतिक परम्परा से होता है,अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती।' भारतीय संस्कृति की अनूठी विशेषता के रूप में उद्घोषित 'विविधता में एकता' के समर्थक तत्त्वों में भारतीय भाषाओं में अंतर्लीन एकता का अहम् स्थान है। इन भाषाओं के बीच हिन्दी की अलग पहचान है क्योंकि यह हमारी संस्कृति और परम्पराओं की संवाहिका भी है। हिन्दी की व्यापक स्वीकृति, उसकी रचनाशीलता, मिश्रणशीलता और विकास को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी और हिन्दुस्तान आज पर्यायवाची बन चुके हैं, हिन्दी से आप हिन्दुस्तान का अर्थ लगा सकते हैं और हिन्दुस्तान कहकर आप हिन्दी को समझ और समझा सकते हैं। कमल किशोर गोयनका जी के शब्दों में कहें तो 'भारतीय संदर्भ में हिन्दी केवल एक भाषाई समुदाय विशेष की सीमित चेतना नहीं है, वह इस देश का सामूहिक मनस्क (कलेक्टिव माइंड) है। इस 'कलेक्टिव माइंड' की एक 'कलेक्टिव स्मृति' है जो उसका व्यवहार करने वालों के वर्तमान यथार्थ और भविष्य की दिशाओं का रूप-निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी इस देश के राष्ट्रीय व्यक्तित्व की 'सामूहिक मेध

ाा' का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा है जिसमें दीर्घकाल से इस देश का साहित्य-कर्म, कलाएँ, विभिन्न संस्कृतियाँ, धर्म, दर्शन, मत-मतान्तर अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। इसी सामूहिक मति श्रेष्ठता से हमारा जातीय अतीत और उसका चरित्र निर्मित है जिसके सहारे सफर करते हुए हम धीरे-धीरे वर्तमान के दरवाजे तक चले आते हैं।' बकौल डॉ. आबिद हुसैन भारत का हजारों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास दर्शाता है कि एकता का सूक्ष्म किन्तु मजबूत धागा, जो उसके जीवन के कारण नहीं बुना गया बल्कि भविष्य द्रष्टाओं की दृष्टि, संतों की चेतना, दार्शनिकों के चिन्तन और कवि कलाकारों की कल्पना का परिणाम है, और केवल ये माध्यम हैं, जिनका राष्ट्रीय एकता को व्यापक, मजबूत तथा स्थायी बनाने में उपयोग किया जा सकता है। गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने यह बात बहुत गहरे आत्ममंथन के साथ कही थी कि 'भारतीय संस्कृति मानवता की परमार्थिक विकास-साधना की धारा है।' वेद-उपनिषद, वाल्मीकि, कालिदास-तुलसीदास, नानक-कबीर, बुद्ध-महावीर, नागार्जुन-शंकर, टैगोर-गाँधी, रामकृष्ण-विवेकानन्द, दयानन्द और अरविन्द इत्यादि में भारतीय संस्कृति का जो अवनिश्वर रूप सुरक्षित है वह युगों-युगों तक भारतीयों के साथ-साथ विश्व के दूसरे देशों का मार्ग दर्शन करता रहेगा; उन्हें सद्कर्म की ओर प्रेरित करता रहेगा।

2

हिन्दी और राष्ट्रीय अस्मिता

भूमण्डलीकरण के इस दौर में आधुनिक मानव अपने सामाजिक जीवन को नितान्त भौतिक समृद्धि के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का आग्रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जीवन के वे आयाम, जिनकी सिर्फ भौतिक सन्दर्भ में व्याख्या एक सीमा तक सम्भव नहीं है, लेकिन जो भौतिक उपलब्धि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, हमारे चिन्तन की परिधि से ही बाहर चले गये। ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं कि भाषा राष्ट्रीय अस्मिता के अनलेक आधारों में से एक है। एक लम्बे समय से हम भारत की भाषा समस्या, राजभाषा के रूप में हिन्दी की राजनीतिक स्थिति, राष्ट्रभाषा के रूप में उसकी सामाजिक अवस्थिति के बारे में गंभीर चिन्तन -मनन करते आ रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वे हिन्दी के सामाजिक व्यवहार व साहित्यिक सरोकार से गहरे रूप से जुड़ कर भाषा की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सरोकार को समझने-समझाने की पुरजोर सार्थक कोशिश करते आ रहे हैं।

भारत की बहुभाषिकता ही इस देश की शक्ति है; ये भाषाएँ भारतीय संस्कृति की संवाहिकाएँ हैं। दूसरे शब्दों में यहाँ की भाषाओं में अभिव्यक्त क्षेत्रीय संस्कृतियों का संगुफन

ही तो भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होता है। हिन्दी और भारतीय भाषाओं में आपसदारी राष्ट्रीय एकता के लिए, राष्ट्र की अखंडता के लिए आवश्यक है। परन्तु जहां तक हिन्दी की बात है, हम भारतीयों के लिए हिन्दी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है—'आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है जिसका एक-एक दल प्रान्तीय भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शाभा नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रांतीय बोलियाँ जिनमें सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में रानी बन कर रहें। प्रान्त के जनगण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश-भूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहें और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य-मणि हिन्दी भारत-भारती होकर विराजती रहे।' राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुभाषचन्द्र बोस जैसे मनीषी भी हिन्दी के समर्थक थे। परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को समस्त देश में फैलाने का श्रेय महात्मा गाँधी को जाता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि किसी भी देश की राष्ट्रभाषा वही भाषा हो सकती है जो वहाँ की अधिकांश जनता बोलती हो। वह सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में माध्यम भाषा बनने की शक्ति रखती हो। वह सरकारी कर्मचारियों एवं सरकारी कामकाज के लिए सुगम तथा सरल हो। जिसे सुगमता और सहजता से सीखा जा सकता हो।... बहुभाषी भारत में केवल हिन्दी ही एक भाषा है जिसमें ये सभी गुण पाए जाते हैं। गांधीजी के स्वप्न के अनुसार उपनिवेशवादी बड़ी भाषाओं की तुलना में हिन्दी को एक राष्ट्रव्यापी एवं विश्वव्यापी विकल्प के रूप में लाने की आवश्यकता है, साथ ही हिन्दी को सूचना प्रौद्योगिकी तथा अन्य नये तकनीकी विषयों से जोड़ना होगा।

3

विश्व में हिन्दी और भारतीय साहित्य-संस्कृति की उपस्थिति

विश्व में भारतीय भाषाओं का महत्व बहुत पहले स्वीकारा जा चुका है। जर्मन के विद्वान मैक्समूलर ने भारत आकर संस्कृत सीखी और वेदों का जर्मनी भाषा में अनुवाद किया, जिससे सारे विश्व में हमारे वाङ्मय की गुणवत्ता प्रमाणित हुई। चीन के यात्री तथा बौद्ध भिक्षुओं ने पाली भाषा में सभी त्रिपिटक एवं जातक कथाओं का अनुवाद चीनी भाषा में किया। संस्कृत में विरचित महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों के साथ पंचतंत्र हितोपदेश तथा कालिदास आदि महाकवियों की कृतियों के साथ हमारे ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक ग्रंथ विश्व की प्रमुख भाषाओं में रूपांतरित हुए। परिणाम स्वरूप आज विश्व के सम्पन्न देश भी हमारी राष्ट्रभाषा-राजभाषा हिन्दी के अध्ययन, अध्यापन की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। इसलिए हिन्दी आज विश्व

में बोली जाने वाली तीसरी बड़ी भाषा है और 22 देशों में 80 करोड़ लोग इस भाषा का प्रयोग करते हैं। साथ ही विदेशों में 240 विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था है। बोलचाल की भाषा के रूप में एशिया, अफ्रिका, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया में हिन्दी लोकप्रिय हो रही है। संयुक्त राष्ट्र में भारत की अस्मिता की भाषा हिन्दी को सातवीं भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने के लिए आज विश्व में जैसा अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ है, वह अप्रतिम है। संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को देश और विदेश में प्रचारित करने के लिए भारत सरकार सतत् प्रयत्नशील है। जनसंचार और फिल्म आदि क्षेत्र में लोकप्रिय माध्यम बन जाने के कारण हिन्दी की लोकप्रियता पूरे विश्व में बढ़ रही है। हिन्दी विश्व की सबसे बड़ी 5 भाषाओं में से चीनी-मंदारीन के बाद सर्वाधिक लिखी, बोली, पढ़ी और समझी जाने वाली भाषा है। यह भाषा भारत की 130 करोड़ आबादी के 70 प्रतिशत लोगों की जीवित भाषा है। गत पाँच सौ वर्षों से इसके साहित्य ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए जो यात्रा की है वह हमारे समय के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वतंत्रता के पश्चात् जिस गति से हिन्दी भाषा ने अपने शब्दकोश और अपने साहित्य का विपुल सृजन किया है वह विश्व की अनेक भाषाओं की तुलना में बहुत महत्त्वपूर्ण है। विश्व में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसने हिन्दी की तरह केवल 70 वर्ष की आजादी में अपने महत्व की इतनी बड़ी स्थापना की हो। हम जानते हैं कि अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, रशियन, चाइनीज, अरबी और जर्मन भाषाओं का भी एक बड़ा यूरा-अमरीकी, लातीनी-अमरीकी और एशियाई भाषाओं का भी एक बड़ा समुदाय है। बावजूद इसके हिन्दी भाषा ने जो स्थान बनाया है उसे सम्पूर्ण विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है। उससे भी बढ़कर इस क्षेत्र में काम करने वाले हिन्दी के विद्वानों और हिन्दी के हितैषियों का कर्तव्य बनता है कि विश्वभाषा के रूप में हिन्दी के विकास एवं उसकी समस्याओं पर चिन्तन करें और कुछ व्यावहारिक कदम उठाएँ। ऐसे में यह जान लेना जरूरी है कि विश्व मे प्रमुख देशों में हिन्दी की क्या स्थिति है।

विश्वभर में हिन्दुस्तान एक ऐशा देश है जहाँ से काफी तादाद में हर वर्ग के लोग दूसरे देशों में प्रवास करते हैं। हिन्दुस्तानियों ने जिन भी देशों में भी प्रवास किया वहाँ अपनी भारतीय संस्कृति व धार्मिक प्रथाओं को सहेजने की भरसक कोशिश की। विश्व का अगर एक छोटा सा क्षेत्र स्कंडिनेवियन देशों की बात करें तो वहां हिन्दी समितियाँ, हिन्दी सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाएँ हैं। डेनमार्क में नाना प्रकार की भारतीय संस्थाएँ हैं जो भारतीय त्योहारों व राष्ट्रीय दिवसों पर कार्यक्रम आयोजित कर विदेशों में बसे भारतीयों को अपनी जड़ों से जोड़े रखती है और भारतीय संस्कृति को सहेजे हुए है।

मारीशस में हिन्दी के जितने पक्षधर हैं उतने शायद किसी देश में नहीं हैं। कथाकार श्री रामदेव धुरंधर के शब्दों में मारीशस ने इतिहास को हिन्दी में जिया है। हिन्दी में ही स्वतंत्रता

तक की यात्रा तय की है। स्वतंत्रता के बाद अस्मिता की खोज में, यहाँ के हिन्दी भाषियों और राजनयिकों ने, हिन्दी का ही सहारा लिया है। इस लम्बी दौड़ में हिन्दी को कहीं नकारा नहीं गया है और यह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी विजय है। रीति-रिवाज, धर्म, रहन-सहन, संस्कृति सब भारतवासियों के समान है। सामाजिक, सरकारी पाठशाला में छात्रगण अधिक संख्या में हिन्दी के प्रति अभिरुचि ले रहे हैं। सरकार द्वारा अच्छे वेतन पर अध्यापकों की नियुक्ति होने से अब हिन्दी भाषा न केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक ज्ञानवृद्धि का साधन रह गयी है बल्कि इससे युवक-युवतियों की जीवनवृत्ति का भी द्वार खुल गया है।

आज फिजी में हिन्दी भाषा-भाषी संख्या में सबसे अधिक हैं, इसलिए हिन्दी भाषा सभी भारतीयों के बीच अभिव्यक्ति का माध्यम स्वतः बन गई। फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं ने हिन्दी को अपनी शब्दावली से समृद्ध किया। साथ ही वहाँ की कोई बीती भाषा के शब्द भी उसमें स्वतः शामिल हो गए हैं। फिजी में बसे भारतीयों की आपसी व्यवहार की तथा बोलचाल की हिन्दी अलग है। औपचारिक अवसरों पर वे परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग करते हैं।

जापान में हिन्दी के मुख्य आयाम शिक्षण, शोध, अनुवाद, खान-पान, सिनेमा और संस्कृति के क्षेत्रों में पहचाने जा सकते हैं। यहाँ के दो विश्वविद्यालयों में हिन्दी की विधिवत पढ़ाई हो रही है। साथ ही बहुत सी सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से हिन्दी पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिल रहा है। परिणाम स्वरूप आज जापानी भाषा में हिन्दी की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों (कफन, तीसरी कसम, तमस आदि) का अनुवाद हो चुका है।

भारतीय भाषाओं तथा ज्ञान में हंगेरियनवासियों की रुचि सैकड़ों साल पुरानी है। उनका हिन्दी प्रेम अप्रतिम है। भारतीय क्लासिकी साहित्य का अनुवाद पिछली कई शताब्दियों से किया जा रहा है। हंगेरियन भारतविद् अंतरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान रहे हैं। दरअसल हंगेरियन लोगों के लिए भाषा तो भारत तक पहुँचने का एक माध्यम है, वे वास्तव में भारतीय इतिहास, समाज और प्राचीन संस्कृति में इतनी गहरी रुचि रखते हैं कि सैकड़ों खतरे और कठिनाइयाँ उठाकर भी भारतीयता की खोज करते रहे हैं।

चीन में हिन्दी का परिदृश्य पर्याप्त संतोषजनक है। पेइचिङ विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग विश्व के प्रतिष्ठित हिन्दी विभागों में से एक है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यहाँ पर संसार के कई देशों के विद्यार्थी हिन्दी पढ़ने आते रहे हैं। यद्यपित चीन में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था सन् 1942 में ही हो गई थी किन्तु अनुवाद कार्य का श्रीगणेश नये चीन की स्थापना अर्थात् सन् 1949 के बाद ही हुआ। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि प्रो. यिन होंग युएन ने चीन भाषा में हिन्दी का पहला व्याकरण ग्रंथ लिखने, प्रो. ल्यू आन ऊ ने प्रेमचंद साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करने और आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखने

तथा प्रो. जिन दिंग हान ने गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा हिन्दी चीनी मुहावरा कोश तैयार करने के लिए विशेष ख्याति अर्जित की है।

चीन में हिन्दी प्रसारण की भी व्यवस्था है। सी.आर.आई. के हिन्दी विभाग की ओर से प्रतिदिन हिन्दी कार्यक्रमों का प्रसारण होता है। सम्प्रति पूरे चीन में हिन्दी भाषा में काम करने वाले सर्वाधिक व्यक्ति अन्तरराष्ट्रीय रेडियो के हिन्दी विभाग में ही हैं। नये चीन की स्थापना के बाद से चीन में हिन्दी-फिल्में भी दिखाई जाती है। इतना ही नहीं चीन के पुस्तक बाजारों में हिन्दी की पुस्तकें भी मिलती हैं।

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् भारत-रूस मैत्री की प्रगाढ़ता विश्व प्रसिद्ध रही है। विश्वविद्यालय और सांस्थानिक स्तर पर भी रूस में हिन्दी सीखने के लिए नियमित पाठ्यक्रम (डिप्लोमा व शोध) की व्यवस्था है। हिन्दी शिक्षण के क्षेत्र में भारतीय राजदूतावास भी पिछले एक दशक से महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है। पिछले लगभग आधे दशक से रूस में हिन्दी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहाँ के रादुगा प्रकाशन ने मार्क्स, लेनिन, दोस्तोवस्की, तोल्सतोय, चेखव, पूश्किन आदि कालजयी रचनाकारों की कृतियों का हिन्दी अनुवाद कर उल्लेखनीय कार्य किया। हिन्दी भाषा सीखने के इच्छुक विद्यार्थी हर साल केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा में विद्यार्थीवृत्ति पर आते हैं। अनेक विद्यार्थी अपने खर्चे से भी हिन्दी सीखने के लिए भारत जाते हैं। इन लोगों में भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम दिखाई देता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है रूस में हिन्दी के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ है।

बेल्जियम में भारत, भारतीय संस्कृति एवं भारत विद्या के प्रति बड़ा अनुराग है। बेल्जियम के स्टेट गेंट विश्वविद्यालय के इंडोलॉजी विभाग में अन्य विषयों के साथ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी भाषा तथा साहित्य भी एक विषय है। साहित्य में जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन, प्रेमचन्द, यशपाल आदि पढ़ाए जाते हैं। बेल्जियम के विद्वानों और विद्यार्थियों का विचार है कि जो भारत को समझना चाहता है, जो भारतीय संस्कृति का वास्तविक परिचय पाना चाहता है, उसको जरूरी है कि वह कम-से-कम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का अध्ययन-अनुशीलन करे।

सूरीनाम के भारतवंशी लोगों ने व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से देश भर में हिन्दी शिक्षण के कई केन्द्र स्थापित किए हैं और पिछले कई वर्षों से इन केन्द्रों में हिन्दी अध्यापन का कार्य किया जा रहा है। श्री सनातन धर्म सभा की ओर से संचालित सौ से अधिक स्कूलों में एक विषय के रूप में हिन्दी तथा धर्म की पढ़ाई होती है। फिल्म, रेडियो, दूरदर्शन, नाटक, कवि-गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं और धर्म-प्रचार सभाओं द्वारा यहाँ हिन्दी का व्यापक प्रचार हो रहा है।

भारत सरकार की विदेशों में हिन्दी प्रचार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान योजना के अन्तर्गत भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के तत्वावधान में अगस्त 1979 में पहली बार क्यूबा में हिन्दी का अध्ययन शुरू हुआ। इस कार्य के लिए हवाना विश्वविद्यालय, क्यूबा में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के रीडर और सम्मानित लेखकों को नियुक्त किया गया। क्यूबा में हिन्दी का अध्ययन विश्वविद्यालयीन चतुर्वर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम के रूप में प्रारम्भ हुआ।

नेपाल न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, वरन् भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी भारत से बहुत प्रभावित रहा है। हिन्दी एवं नेपाली भाषी क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। वहाँ नेपाली के बाद सर्वाधिक बोली-समझी जाने वाली भाषा हिन्दी है। नेपाली भाषा की लिपि देवनागरी है और इसका प्रादुर्भाव शौरसेनी प्राकृत से हुआ है, अतः इस भाषा के शब्द भंडार और हिन्दी के शब्द भंडार में बहुत साम्यता है। भारत और नेपाल की भौगोलिक-सांस्कृतिक एकता ने दोनों देशों के निकट सामाजिक-आर्थिक संबंध में अपना ठोस रूप पा लिया है। इस घनिष्ठ संबंध ने दोनों देशों को भाषा की दृष्टि से भी काफी प्रभावित किया है।

श्रीलंका हमारा पड़ोसी देश है और वहाँ से प्रसारित रेडियो सिलोन के हिन्दी कार्यक्रमों से हम सब भलीभाँति परिचित हैं। अमेरिका के अनेक प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इस क्रम में हांगकांग, चेकोस्लोवाकिया आदि अन्य देशों में भी हिन्दी की मजबूत स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

प्रवासी भारतीयों और भारतवंशियों के लिए हिन्दी उनकी अपनी सांस्कृतिक भाषा है। विदेशों में हिन्दी चाहे कामकाज और कार्यालय की कमाऊ भाषा भले ही न हो लेकिन वह रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, खान-पान, तीज-त्योहार, रहन-सहन और जीवन की भाषा है। वह जीवनदायी हृदय की भाषा है। विश्व में इतनी बड़ी तादाद में हिन्दी बोलने वाले होने के बावजूद हिन्दी भाषा सीखना एक उतना बड़ा व्यापार नहीं है, जितना कि चायनीज, रशियन व अरबियन आदि भाषाओं को सीखना। आजादी के बाद भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों को अन्य देशों के साथ प्रगाढ़ करने की दिशा में निश्चय ही हिन्दी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह हर्ष का विषय है कि भारत सरकार की ओर से समय-समय पर कई सांस्कृतिक कार्य किए गए और किए जा रहे हैं और इसमें भाषा की भूमिका का निर्वाह हिन्दी ही करती है और उसकी यह भूमिका अन्तरराष्ट्रीय स्तर की है।

विश्व हिन्दी सम्मेलन 'हिन्दी विश्व' की रचना का सम्मेलन है। विश्व हिन्दी सम्मेलन एक ऐसा मंच है जहाँ हिन्दी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनी पहचान बना सकती है। इसलिए विश्व में हिन्दी की स्थानीयता सिद्ध करने का यह ऐसा उत्सव है जो हिन्दी के गर्व का प्रतीक है। भारत की राष्ट्रीय अस्मिता और भूमंडलीकरण की भीड़ में अपनी अक्षुण्ण पहचान को बनाये रखने के लिए हिन्दी को अपने सद्प्रयासों से राष्ट्रभाषा का स्थान

दिलाना ही होगा, जिसकी कि वह हर दृष्टि से अधिकारिणी है। यह सद्‌प्रयास भारत के प्रत्येक नागरिक को सद्‌इच्छा से अपने-अपने स्तर से करना होगा। इसी में हिन्दी और जगत् का कल्याण निहित है :

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुः अग्ने।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।। (—अथर्व, 19/41/1)

सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश, पिन-470003

हिन्दी की समस्याएँ

—नगेन्द्र

सहृदय साहित्यिक बन्धुओं !

अपने सत्रहवें वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित कर परिषद् ने मुझे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिए मैं संचालक-मण्डल तथा विद्वान् निदेशक महोदय का हृदय से आभारी हूँ। राष्ट्रभाषा तथा उसके साहित्य के प्रचार एवं संवर्धन की दृष्टि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में बिहार का अन्यतम स्थान है। जहाँ हिन्दी का हृदय-केन्द्र राज्य अभी तक राजभाषा के प्रचार-प्रसार के उपायों पर विचार-विमर्श ही कर रहा है, वहाँ बिहार शासन ने वर्षों पहले निर्विकल्प भाव से इस विषय में आदेश जारी कर दिये हैं और—यह निर्विकल्प दृष्टिकोण ही वस्तुतः हमारी समस्या का सबसे अधिक प्रभावी समाधान है। जहाँ तक मेरा अनुमान है, हिन्दी के मार्ग की सबसे ड़ी बाधा उसकी वैकल्पिक मान्यता ही रही है। जीवन की सुविधा के लिए विकल्प अनिवार्य है—व्यक्ति के जीवन के लिए और सार्वजनिक जीवन के लिए भी; परन्तु एक सीमा के बाद, विकल्प मेघा के आलस्य का कारण बनकर निर्णय-शक्ति को कुंठित कर देता है। ऐसी स्थिति में वह जीवन की बाध बन जाता है। हिन्दी के संदर्भ में आज राष्ट्र के सम्मुख यही बाधा नानारूप घर कर खड़ी हुई है। इस बाधा का अंत करने के लिए उसके मूल कारण 'विकल्प' का अंत करना होगा। मैं यहाँ जोर-जबर्दस्ती की सिफ़ारिश नहीं कर रहा—वह लोकतंत्र के लिए उचित नहीं है, पर जो लोकहित में करणीय है और संभाव्य भी, उसमें विकल्प क्यों हो? एक बार अनाविल दृष्टि से विचार कर लिया जाए और जहाँ विकल्प के लिए अवकाश नहीं है, वहाँ उसे खत्म कर दिया जाए। बिहार तथा अन्य राज्यों के जिन दूरदर्शी नेताओं ने यह साहसिक क़दम उठाया है, वे हमारे साधुवाद के पात्र हैं। राज्य का प्रतिनिधि भाषा-केन्द्र होने के नाते बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का यह दायित्व हो जाता है कि इस पुण्य संकल्प की पूर्ति में अपने समस्त साधनों के द्वारा अनथक सहयोग देने के लिए कटिबद्ध हो जाए। मैं इस अवसर पर अतीत की उपलब्धियों का स्तवन न कर उसे अपने तात्कालिक कर्तव्य की ओर प्रेरित करना ही अधिक श्रेयस्कर मानता हूँ क्योंकि सिद्ध का अनुचिंतन करने की अपेक्षा साध्य की ओर बढ़ने का उत्साह अधिक आनन्दप्रद होता है।

मेरे साथ कठिनाई यह है कि निश्चित प्रतिपाद्य के अीााव में सर्वतोमुखी बाग्धारा प्रवाहित कर देना मेरे लिए संभव नहीं होता। जब कभी किसी संस्था की ओर से सार्वजनिक मंच के भाषण देने का आमंत्रण मिलता है, मेरे सामने विषय की समस्या उठ खड़ी होती है और अपनी ओर से एक-दो ज्वलंत प्रश्नों को लक्षित कर, विचार व्यक्त करने में मुझे सुविधा रहती है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ आज हमारे सामने हैंः जैसे भाषा के क्षेत्र में—हिन्दी के व्यापक स्वरूप की संरक्षा का प्रश्न, भाषा के रूप में हिन्दी की शिक्षा की व्यवस्था, माध्यम-परिवर्तन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ग्रंथ-निर्माण आदि की समस्या;—साहित्य के क्षेत्र में—मूल्यों का विघटन और उसके परिणाम, नयी-पुरानी पीढ़ी के बीच बढ़ती हुई खाई, तेजी से बदलते परिवेश के साथ साहित्य के समाकलन की समस्या—और शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान जीवन के अनुरूप पाठ्यक्रम के पुनर्मूल्यांकन था पुनर्निर्माण की समस्या—आदि।

इन विषयों पर मैं कुछ अन्य साहित्यिक मंचाों से अपने विचार व्यक्त कर चुका हूँ जिनकी पुनरावृत्ति न आवश्यक है और न उचित ही। इस अवसर पर मैं हिन्दी भाषा और साहित्य की कतिपय तात्कालिक आवश्यकताओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

हिन्दी भाषा की आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि शिक्षा और राजकाज के माध्यम के रूप में उसे अधिकाधिक समर्थ एवं सम्पन्न बनाया जाए जिससे स्तर का ह्रास किये बिना राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप उसका प्रयोग निर्बाध रूप से किया जा सके। यह एक विराट् राष्ट्रीय अनुष्ठान है जिसमें हिन्दी की संस्थाओं को योजनाबद्ध रूप से अंशदान करना चाहिए। राजकीय क्षेत्रों में आज भारी हलचल मची हुई है और प्रत्येक दल जनता के परितोष के लिए व्यग्र है। किन्तु जनता का परितोष सिर्फ़ रोटी-कपड़े से नहीं हो सकता, उसे अपनी भाषा भी चाहिए जिसके माध्यम से वह अपनी संतान को शिक्षा दे सके, जीविका का अर्जन कर सके और अपने अधिकारों के लिए न्याय मांग सके। यह कार्य आरंभ हो चुका है लेकिन जिस गति से आगे बढ़ना चाहिए उस गति से आगे नहीं बढ़ रहा। शिक्षा और प्रशासन के तंत्र में आज जो लोग काम कर रहे हैं, उन्हें सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : पहले वर्ग में वे लोग आते हैं जिनमें हिन्दी के माध्यम से कार्य करने की क्षमता है और जो अब तक वांक्षित दक्षता भी प्राप्त कर चुके हैं। दूसरा वर्ग ऐसे लोगों का है जिन्हें भाषा का पर्याप्त ज्ञान है और उसका प्रयोग करने की इच्छा भी जिनके मन में है, परन्तु अभ्यास के अभाव में जिनमें आत्म-विश्वास अभी तक नहीं जग सका। तीसरे वर्ग में वे हैं जो अनेक प्रकार की परिसीमाओं के कारण इस दिशा में आगे बढ़ने में वास्तविक कठिनाई का अनुभव करते हैं। तीसरे वर्ग के साथ हमें सहानुभूति और विवेक से व्यवहार करना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों की सुविधा के लिए हिन्दी-सहायकों की व्यवस्था करनी होगी। कुल मिलाकर पूरा ध्यान हमें दूसरे वर्ग के लोगों पर

ही देना चाहिए जिनका शायद बहुमत है : जो भाषा जानते हैं पर अनभ्यासवश उसके व्यवहार से झिझकते हैं। इनके लिए अभ्यास-केन्द्र, संगोष्ठियाँ, पुनश्चर्या-क्रम तथा आवश्यकता के अनुसार पूर्णकालिक गहन पाठ्यक्रम की व्यवस्था व्यापक स्तर पर होनी चाहिए। व्यवस्थित रूप से और सच्चे इरादे से काम शुरू होने पर एक वर्ष के भीतर कम से कम आधे देश का नक़्शा बदल जाएगा और तब शेष के लिए कोई विकल्प नहीं होगा। यह काम बिलकुल कठिन नहीं है, लेकिन सच्चे मन से अभी यह शुरू ही नहीं किया गया। इस समय हर छोटे-बड़े नगर में विद्यालय और महाविद्यालय हैं जहाँ प्रशासनिक कर्मचारियों के लिए इस प्रकार के अभ्यास की व्यवस्था की जा सकती है। अब रह गया पहला वर्ग जो हिन्दी के प्रयोग में समर्थ भी है और दक्ष भी। इस वर्ग का प्रमुख दायित्व यह है कि वह अपनी योग्यता से प्रतिद्वन्द्वी भाषा के महारथियों को निष्प्रभ कर दे—यह सिद्ध कर दे कि हिन्दी में प्रशासनिक कार्य करना अधिक सार्थक हैः उसमें श्रम व समय दोनों की बचत होती है, भ्रान्ति के लिए अवकाश प्रायः नहीं रहता, जानबूझकर गलत अर्थ लगाने की सुविधा कम और जनता के साथ सीधा संपर्क करने की क्षमता अधिक है। इस प्रकार का कार्यक्रम लोकतंत्र की सफलता के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सच्चा लोकतंत्र यही है कि समाज के व्यापक हित के लिए व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के संकुचित स्वार्थ का उत्सर्ग किया जाए। समाजवाद का आधार भी यही है, क्योंकि समाज को उसकी भाषा दिये बिना समाजवाद का नारा कैसे सफल हो सकता है? इसमें कुछ लोगों को असुविधा हो सकती है और उसका भी ध्यान रखना जरूरी है, पर उनके लिए समाज के हितों का बलिदान नहीं करना चाहिए।

प्रशासनिक कार्यों में हिन्दीके प्रयोग को सुकर बनाने के लिए अपेक्षित साहित्य का निर्माण भी इसी योजना के अन्तर्गत अविलम्ब होना चाहिए। दिल्ली में सचिवालय हिन्दी-परिषद् ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। इस प्रकार की पुस्तिकाएँ और पत्रिकाएँ प्रकाशित की जानी चाहिए जिनमें सामान्य व्यवहार की शब्दावली, वाक्य-विन्यास, तथा प्रयोग-भंगिमाओं का हिन्दी रूपांतर सहज लभ्य हो, जिसमें भाषा की कठिनाई के कारण काम न रूका पड़ा रहे। कुछ समय के लिए बड़े-बड़े कार्यालयों में इस प्रकार के हिन्दी-संदर्भ-एकक स्थापित होने चाहिए जो भाषा-संबंधी कठिनाइयों के तात्कालिक समाधान प्रस्तुत कर सकें। प्रत्येक राज्य ऐसी व्यवस्था अपने-अपने ढंग से कर सकता है और केन्द्रीय स्तर पर विभिन्न राज्यों की कार्य-पद्धतियों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। ये अत्यन्त उपयोगी और सरल उपाय है जो अधिक व्यय-साध्य भी नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अब हम रचनात्मक कल्पना और सक्रिय विवेक से काम करें। हिन्दी की एक तात्कालिक आवश्यकता यह भी है कि केन्द्रीय और प्रादेशिक शासन तंत्रों द्वारा संचालित अनेक योजना-सूत्रों का समन्य किया जाए जिसमें उपयोगी-अनुपयोगी में भेद कर उपयोगी का ग्रहण तथा अनुपयोगी का त्याग किया जाए,

पुनरावृत्तियों का निराकरण किया जाए, प्राथमिकता-क्रम का निर्धारण हो सके और साध ान-सामग्री का उचित संयोजन किया जा सके। हिन्दी का कार्य इतने विविध रूपों में और इतनी अनियोजित रीति से हो रहा है कि कहाँ क्या होता अै और उसकी क्या उपादेयता है, इसका पर्यवेक्षण करने का कोई प्रबंध ही नहीं है। परिणाम यह है कि शासन को यह शिकायत है कि हिन्दी के लोग अनुदान का उपयोग नहीं कर पाते या ठीक उपयोग नहीं करते। उधर हिन्दी-क्षेत्रों को यह शिकायत है कि सरकार हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करती। इस प्रकार एक दुष्चक्र-सा बन गया है जिसे तोड़ने का उपाय यही है कि एक बार समस्त योजनाओं का सर्वेक्षण और मूल्यांकन कर उनका उचित संगठन किया जाए—निष्क्रिय अंगों को काट दिया जाए और जीवत अंगों में नवीन रक्त का संचार किया जाए। इस कार्य के लिए वास्तव में एक केन्द्रीय संस्थान की आवश्यकता है जो निरंतर इस प्रकार समन्वय संगठन करता रहे। इस संस्थान को प्रशासन के शिकंजे से मुक्त करना होगा, कार्यविधि की जटिल रूढ़ियों को सरल बनाना होगा और योजनाओं को समय की मांग के अनुसार ढालना होगा। राजभाषा का कार्य वास्तव में एक निरंतर प्रक्रिया है जो देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के साथ चलती रहेगी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी—शिक्षा से अभिप्राय यहाँ उच्चतर शिक्षा का ही है—समस्या का रूप कुछ-कुछ इसी से मिलता जुलता किंतु अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक है। इस समस्या का समाधान कुछ तो हो चुका है, किन्तु काफी अभी बाकी है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक-तकनीकी शब्दावली आयोग ने प्रायः दो लाख पारिभाषिक शब्दों का निर्माण कर ज्ञान के साहित्य की रचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। यह सामान्य उपलब्धि नहीं है। इस दिशा में इतना कार्य हो गया है कि विभिन्न विषयों के विद्वान अब स्वयं ही आगे की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। वास्तव में अभियंता सड़कों का निर्माण ही करते हैं, उन पर चलकर मंजिलें तय करना तो उत्साही यात्रियों का काम है। फिर भी, शब्द-निर्माण का यह कार्य रुकना नहीं चाहिए : इसे भी हमें एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करना होगा। ग्रंथ-रचना का काम अभी तक व्यावसायिक प्रकाशकों और स्वेच्छिक लेखकों के हाथ में रहा है अभी तक जितना और जैसा कार्य हुआ है, वह अपर्याप्त हैः कम-से-कम स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए—विशेषकर वैज्ञानिक विषयों में, अभीष्ट सामग्री अभी नहीं है। लेकिन गत एक वर्ष से योजनाबद्ध रूप में यह कार्य आरंभ हो गया है और प्रत्येक हिन्दी-भाषी प्रदेश में एक-एक ग्रन्थ अकादमी स्थापित हो चुकी है जिसे सभी विश्वविद्यालयों का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। यह हमारे लिए समय की ललकार है। अब तक हम शासन को दोष देते रहे हैं, किन्तु यह कभी नहीं सोचा कि हमने इस बृहद अनुष्ठान में कितना योगदान किया है। अब यह बहाना भी हमारे पास नहीं रहेगा। इस समय आवश्यकता है कुशल नेतृत्व की : प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी-एकक की स्थापना की जाए और उसका दायित्व ऐसे व्यक्ति पर हो जिसमें योजना बनाने की नहीं, वरन् काम करने-कराने की क्षमता हो।

इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उभरकर सामने आ रहा है और वह है– अनुवाद बनाम मौलिक लेखन? अनुवाद की अपनी कठिनाइयां और अपनी सीमाएं हैं। सबसे पहले कापीराइट का मामला है। पाठ्यक्रमों में निर्धारित पुस्तकें अंग्रेजी की हैं जिनके प्रकाशक इंग्लैंड व अमरीका में हैं। अनेक कारणें से वे इस दिशा में विशेष रुचि और उत्साह नहीं दिखा रहे। रूस आदि देशों में प्रकाशित पुस्तकें हमारे विश्वविद्यालयों में अभी लोकप्रिय नहीं हुईं। अतः अनुवाद के क्षेत्र में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई प्रकाशनाधिकार की है जो काफ़ी दौड़धूप के बाद एक सीमा तक हल हो पायी है। दूसरी कठिनाई यह है कि शिक्षित अनुवादकों की संख्या आवश्यकता से कहीं कम है। ऐसे व्यक्ति जिनका मूल विषय के साथ हिन्दी भाषा पर भी वांछित अधिकार हो, बहुत ही कम हैं। यों हमारे विश्वविद्यालयों और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों में हिन्दी के अध्यापकों की संख्या आसानी से आठ-दस हजार होगी। इनमें से भाषा पर अधिकार तो प्रायः सभी का है और अधिकांश बी.ए. तक एक-दो अन्य विषयों का भी अध्ययन कर चुके हैं, परन्तु सफल अनुवाद के लिए इतना काफ़ी नहीं है। उसके लिए विशेष प्रशिक्षण और अभ्यास की आवश्यकता होती है। शिक्षा-जगत के बाहर पत्रकारिता आदि के क्षेत्र में अभ्यस्त अनुवादक काफ़ी मिल सकते हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण शास्त्रीय नहीं है। इन दो बड़ी कठिनाइयों के अलावा अनुवाद की अपनी सीमाएं भी स्पष्ट हैं : अनुवाद आखिर अनुवाद ही है, मूल का समकक्ष कैसे हो सकता है? अंग्रेजी और अमरीकी लेखकों के ग्रंथ वहां की अपनी परिस्थितियों के संदर्भ में लिखे गये हैं। इसलिए उनका यथावत् अनुवाद करके रख देना सार्थक नहीं है। और फिर, अनुवाद के अंतर्गत विषय-प्रतिपादन की शैली तथा भाषा दोनों में ही एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है जो पाठके के विषय-बोध को निरंतर वाधित करती रहती है। इन्हीं बाधाों के कारण अनेक शिक्षाविद् अनुवाद के स्थान पर मौलिक लेखन का आग्रह करते हैं। परन्तु यह विकल्प भी सरल नहीं है। मौलिक लेखन को यदि सच्चे अर्थ में लिया जाए तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसे लेखक देश में कितने हैं जो अंग्रेजी के उपलब्ध ग्रंथों के समतुल्यय मौलिक ग्रंथों की रचना हिन्दी में कर सकते हों? यह बात इतनी साफ़ है कि इसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। तो फिर, मौलिक लेखन से क्या अभिप्राय है? ज़ाहिर है कि मौलिक लेखन के पक्षधर अनुवाद के विपरीत संदर्भ में इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं : यानी वे रूपांतर, अनुग्रहण, अनुकूलन आदि अनुवादेतर सभी प्रक्रियाओं को मौलिक लेखन के अंतर्गत स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी वे यहां तक कह देते हैं कि किसी ग्रंथ-विशेष का अनुवाद करने से यह कहीं अच्छा है कि अनेक प्रमाणिक ग्रंथों से सामग्री-संकलन कर उसे हिन्दी की अपनी प्रतिपादन-शैली और सहज प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत कर दिया जाए। उनका तर्क है कि इससे कापीराइट के झंझट से भी बच जायेंगे और विषय की प्रतिपादन-शैली तथा भाषा भी अनुवाद-जन्य दोषों से मुक्त रहेगी। लेकिन यह उपाय जितना सरल लगता है—उतना है नहीं।

इसमें भी कानूनी और नैतिक बाधाएं हैं। और फिर, इस प्रकार की पुस्तकें क्या हिन्दी के गौरव के अनुरूप होंगी? एक बार इस प्रवृत्ति को हमने स्वीकृति तथा प्रोत्साहन दिया तो आगे के लिए गलत रास्ता खुल जाएगा और हम शैक्षणिक स्तर की रक्षा नहीं कर पायेंगे। इसलिए अनेक दोषों के रहते हुए भी अनुवाद कार्य से बचना, कम-से-कम आरम्भिक स्थिति में, संभव नहीं है। हाँ, अनुवाद की प्रविधि और प्रक्रिया में अपेक्षित सुधार अवश्य होना चाहिए। ज्ञान के साहित्य में, जहाँ कथ्य का महत्त्व कथन से अधिक है, शब्दानुवर्ती अनुवाद की अपेक्षा अर्थानुवर्ती अनुवाद ही अधिक उपयोगी है। दूसरे, विदेशी पुस्तकों के जो प्रसंग हमारे विद्यार्थी तथा पाठक के लिए अनावश्यक एवं अग्राह्य हैं उनका त्याग करते हुए, आवश्यकतानुसार पाद-टिप्पणी अथवा परिच्छेद के परिशिष्ट-रूप में, अपने देश और परिवेश के संदर्भों का समावेश कर देना चाहिए। वास्तव में, हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अविकल अनुवाद की नहीं संपादित अनुवाद की योजनाएं ही अधिक उपयोगी हैं : अंग्रेजी के उत्तम से उत्तम ग्रंथ का भी अविकलअनुवाद हमारे विद्यार्थी के काम का नहीं है। उसके बहुत से अंश अनावश्यक होते हैं, जिन पर समय व धन का अपव्यय हीं करना चाहिए। उनके स्थान पर विषय के अधिकारी भारतीय विद्वानों की भूमिकाएँ तथा आवश्यक परिशिष्ट आदि देने से इन ग्रंथों की उपादेयता और भी बढ़ सकती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न विषयों के प्रामाणिक ग्रंथों के संपादित अनुवाद अविलम्ब ही प्रस्तुत करना हिन्दी की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके लिए विपुल संख्या में योग्य अनुवादक तैयार करने होंगे। उनके प्रशिक्षण व अभ्यास के लिए प्रमुख विश्वविद्यालयों में तत्काल ही केन्द्र स्थापित करने चाहिए, अनुवाद-कार्य को उच्चतर शिक्षा के अंतर्गत मान्यता देनी चाहिए और सभी विश्वविद्यालयों तथा बड़े-बड़े महाविद्यालयों में ऐसे पूर्ण-कालिक अनुवादक-अध्यापकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो आवश्यक सामग्री निरन्तर हिन्दी में उपस्थित करते रहें। अभी कुछ समय पहले भारत के भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री डॉ. राव की प्रेरणा से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक बृहद् योजना बनाई थी। लेकिन न जाने किन कारणों से उसमें हिन्दी को उचित स्थान नहीं मिल पाया। उसको या ऐसी ही योजनाओं को शीघ्र ही कार्यान्वित करना आज एकदम जरूरी है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मौलिक लेखक का अवमूल्यन कर रहा हूँ। वास्तव में मौलिक लेखक की समता अनुवाद नहीं कर सकता—यह एक स्वयं-सिद्ध तथ्य है। किन्तु जहाँ अनेक कारणों से मौलिक लेखन की संभावना नगण्य हो, वहाँ अनुवाद के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। रूपान्तर, अनुग्रहण आदि उपयों का भी विवेकपूर्वक व्यवहार किया जा सकता है, पर इसके आगे और सस्ते तरीकों का इस्तेमाल करने से कुल मिलाकर नुकसान ही होगा। किसी भी क्षेत्र में मौलिक लेखन की स्थिति तक पहुंचने के लिए सामान्यतः दो मंजिलें पार करनी पड़ती

हैं। पहली में अनुवाद और आदान का प्राधान्य रहता है, दूसरी में आख्यान-प्रत्याख्यान का; —फिर तीसरी में जाकर नैसर्गिक प्रतिभा के उद्दीप्त होने पर मौलिक सृष्टि संभव होती है। आधुनिक युग में ललित साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी का विकास इसी क्रम में हुआ है; अतः ज्ञान के साहित्य में भी इसी का अनुकरण श्रेयस्कर रहेगा।

हिन्दी की एक अन्य आवश्यकता है प्रमुख विश्वविद्यालयों में उच्चतर अध्ययन-केन्द्रों (एडवांस सेंटर्स) की स्थापना। इस समय देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस प्रकार के 30 केन्द्र हैं जिनमें ज्ञान-विज्ञान के अधिकांश विषयों के गहन-व्यापक अनुसंधान की व्यवस्था है। दुर्भाग्य से हिन्दी अभी तक इस सामान्य गौर से वंचित है। देश में छोटे-बड़े कुल 83 विश्वविद्यालय हैं जिनमें से अधिकांश में हिन्दी का अध्यापन हो रहा है और कम-से-कम 50 में उच्चतम शिक्षा तथा शोध की नियमित व्यवस्था है। मेरा निश्चित मत है कि गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से इतना अधिक कार्य किसी अन्य विषय में नहीं हो रहा। एक बार यह प्रश्न उठा था— लेकिन इसके उत्तर में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि हिन्दी के लिए इस प्रकार का प्रावधान किया गया तो अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी करना होगा। यहाँ हम हिन्दी और भारतीय भाषाओं के विवाद में नहीं पड़ना चाहते। सवाल यह है कि क्या हिन्दी के महत्त्व और विस्तार को देखते हुए उसको यह सुयोग नहीं मिलना चाहिए? हिन्दी के साथ कुछ अन्य प्रमुख भाषाओं के लिए प्रावधान करना आवश्यक हो तो जरूर किया जाए, यदि एक साथ न हो सके तो क्रमशः किया जाये। परन्तु अन्य भारतीय भाषाओं के नाम पर हिन्दी को उसके प्राप्य से वंचित करना तो उचित नहीं है। वास्तव में हिन्दी तथा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं का पक्ष अन्य विषयों की अपेक्षा और भी प्रबल है—क्योंकि विज्ञान तथा अर्थशास्त्र आदि के लिए जहां विश्व भर में बड़े-बड़े शोध-केन्द्र विद्यमान हैं, वहाँ हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का गहन अध्ययन केवल भारत में ही हो सकता है। समस्त भारत में देश की राजभाषा के उच्चतर अध्ययन का एक भी केन्द्र न हो, यह कुछ विचित्र-सी ही बात है। मैं समझता हूँ कि हिन्दी-प्रदेशों के प्रमुख विश्वविद्यालयों को इस दिशा में संगठित प्रयत्न करना चाहिए।

सर्जनात्मक क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य की धारा आजकल कुछ उतार पर है। वैसे तो वर्तमान युग की तीनों ही पीढ़ियों के लेखक अपने-अपने ढंग से सक्रिय हैं। पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों में पंत, दिनकर, बच्चन, यशपाल, भगवती-चरण वर्मा, जैनेन्द्र आदि का लेखन-व्यापार चल ही रहा है, और नयी पीढ़ी तो मानो सम्पूर्ण युग का भार अपने कंधों पर ही ढो रही है। इधर नयी से भी नयी पीढ़ी का यह दावा है कि आज के जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का अधिकार और दायित्व उसको ही प्राप्त है। फिर भी, उपलब्धि की दृष्टि से ऐसा अधिक नहीं है जो कालजयी साहित्य के अंतर्गत आ सके। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। अभी दिल्ली के एक मंच से कवि दिनकर ने नयी कविता की सिफ़ारिश करते हुए कहा था कि आज की

नारी ने जैसे परम्परालब्ध वस्त्रालंकार त्यागकर चुस्त वेशभूषा का वरण किया है, शरीर के मांसल उभार के स्थान पर उसके मन में छरहरी देहयष्टि के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है : उसी प्रकार कविता ने भी अभिव्यक्ति की साज-सज्जा और विषयवस्तु की रस-पेशलता का मोह छोड़कर कथन की चुस्ती में ही अपनी सार्थकता मान ली है। आधुनिक नारी जैसे अपने व्यक्तित्व और उनके प्रभाव के बीच किसी प्रकार का व्यवधान नहीं चाहती, इसी प्रकार कविता भी किसी प्रकार की आरोपित सौन्दर्य-सज्जा के बिना अपने प्रभाव को सार्थक करना चाहती है। यहाँ बात एक खास अन्दाज़ से कही गयी है। उसमें कवि-विचारक के सर्जनात्मक चिन्तन का चमत्कार तो है पर एक सीमा से आगे नयी कविता की स्थापना इससे नहीं हो पाती। इस पर सच्ची कविता का पारखी प्रश्न कर सकता है : क्या चुस्त पोशाक व्यक्तित्व की सार्थकता का अमोघ साधन है? एक ओर जहाँ वह किसी सुन्दर देह-यष्टि के प्रभाव का प्रत्यक्ष माध्यम बन सकती है, वहाँ दूसरों की कहीं अधिक दुर्गति का कारण भी बन सकती है। दिल्ली का निवासी होने के कारण चुस्त-पोशाक के चमत्कार से मैं काफ़ी परिचित हूँ और मुझे विश्वास हे कि इसका थोड़ा अनुभव आपको पटना में भी होता ही होगा। वास्तव में वेशभूषा का भी एक विज्ञान का दर्शन होता है। व्यक्तित्व के गुणों को उभारने और दोषों को छिपाने में ही उसकी सार्थकता है। नयी कविता में कथन का लाघव जहाँ रमणीय अनुभूति को चमत्कृत करता है वहाँ फूहड़ अनुभूति को नंगा कर उसे वीभत्स बन देता है। कथन का लाघव भी तो अलंकार ही है, और जैसा-कि वामन ने लिखा है, 'अलंकार का यह धर्म है कि वह सुन्दर को अधिक सुन्दर तथा कुरूप को और भी कुरूप बना देता है।' इसलिए जिस प्रकार अनावश्यक अथवा अनुप्रयुक्त अलंकार धारण करने से कविता के सहज रूप की हानि होती है, इसी प्रकार अर्धनग्न अथवा निर्वसन हो जाने से भी उसका अपकार ही होता है। नये कवि के मन में कथन के लाघव के प्रति इतना अधिक मोह पैदा हो गया है कि वह कथ्य की उपेक्षा कर कला-सृजन के मौलिक नियम की अवहेलना कर रहा है। दृष्टिकोण का यही असंतुलन हमाने वर्तमान साहित्य की एक प्रमुख बाधा है और रचनात्मक उपायों से इसका निराकरण करना आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है। ऐसे रचनात्मक उपाय अनेक हो सकते है जिनसे साहित्य के मूल्यों में स्थिरता आये : विवाद और संघर्ष की अपेक्षा सर्जना को बल मिले, नये-पुराने साहित्य या नयी-पुरानी पीढ़ी का अकारण द्वन्द्व मिटे और युग-बोध तथा तत्त्व-बोध, परम्परा और प्रयोग, संस्कार और चमत्कार के सामंजस्य स्थापित हो सके। इन सबका उल्लेख करना न इस समय संभव है न उचित ही। यहाँ मैं केवल दो-एक अत्यंत आवश्यक उपायों का ही उल्लेख करना चाहता हूँ।

सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में स्थिरता लाने के लिए पहली आवश्यकता तो यह है कि विभिन्न वयःक्रम और दृष्टिकोण के प्रतिभाशाली लेखकों के बीच सद्भाव उत्पन्न किया जाए जिससे स्थापित लेखक उदीयमान प्रतिभा की उपेक्षा न करे और नवोदित लेखक अपने पूर्वजों

एवं अग्रजों के प्रति अकारण आक्रोश व्यक्त न करे। जो प्राचीन है वह सभी साधु नहीं हैं, यह ठीक है; किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि सभी प्राचीन असाधु भी नहीं है। इसी प्रकार, नवीन प्रतिभा के उन्मेष का आदर करना चाहिए; किन्तु नवीनता मात्र प्रतिभा का उन्मेष नहीं है, यह विवेक भी आवश्यक है। आज नये और पुराने साहित्य के अलग-अलग मंच है और अलग-अलग मुखपत्र जिससे यह खाई और बढ़ती जा रही है। इनके स्थान पर ऐसी संस्थाओं और मंचों का विकास करना चाहिए जहाँ साहित्य का आकलन और विवेचन हो—नये और पुराने आवरणों के बीच दबे हुए साहित्य के स्वरूप का उद्घाटन किया जाए, परम्परा अपने विकास से स्फूर्ति और विकास अपनी परम्परा से समृद्धि ग्रहण करे, नये-पुराने की भेदभावना और वादों के पूर्वग्रह से मुक्त होकर सच्चा साहित्यकार जहाँ शुद्ध मन से कला की आराधना कर सके : युगबोध और इतिहास-बोध के प्रति सजग रहता हुआ भी वह सौन्दर्य-बोध की प्राथमिकता दे सके। इसी से सम्बद्ध अथवा इसी का पूरक एक और भी उपाय है और वह है ऊंचे स्तर की साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन। इस समय गंभीर मासिक पत्रिकाओं का हिन्दी में एकदम अभाव हो गया है : ऐसा अकाल शायद पहले कभी नहीं पड़ा। तात्कालिक और संकीर्ण उद्देश्यों को लेकर लघु-पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ रहा है जिनसे साहित्य के क्षेत्र में अराजकता फैलती जा रही है। परन्तु गंभीर लेखक को अपने विचारों के सम्यक् प्रसार के लिए और सर्जक साहित्यकार को अपनी कृतियों को उचित समीक्षा के लिए कोई अच्छा माध्यम सुलभ नहीं है। ग्रंथ-समीक्षा साहित्य के विकास का सदा से ही एक प्रभावी साधन रहा है। पर आज उसका कोई मूल्य नहीं रहा। सिद्ध लेखक को उसमें रुचि नहीं है : वह केवल आशीर्वचन या भूमिका लिखता है। दैनिक पत्रों मे पुस्तक-परिचय मात्र रहता है, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं और उसके समीक्षकों के दृष्टिकोण इतने विभक्त हो गये हैं कि वहाँ आलोच्य पुस्तक का मूल्यांकन उसके विषय, लेखक के नाम और प्रवृत्ति आदि के आधार पर पूर्वनिर्धारित हो जाता है : सम्पादक समीक्षक को लिख देता है कि इसके साथ 'न्याय' कीजिए और समीक्षक वक्ता-बोद्धव्य के अनुसार उसका अर्थ लगाकर पूरा 'न्याय' करता हुआ एक रचना को विश्व-साहित्य की निधि और दूसरी को मुद्रण व प्रकाशन का अपव्यय मात्र घोषित कर देता है। प्रतिष्ठित साहित्यकारों के अपने-अपने प्रभा-मण्डल हैं जिनके सदस्य अर्घ्य और मधुपर्क से लिखते हैं, और उनके विपक्ष में है आक्रोशमय युवावर्ग जो तेजाब से लिखता है। परिणाम यह है कि लेखक और प्रकाशक अपनी पुस्तकें समीक्षा के लिए भेजने से कतराते हैं, सुधी सम्पादकों को सही समीक्षक नहीं मिलते और समीक्षकों को अपनी रुचि के अनुकूल पत्र-पत्रिकाओं में स्तम्भ नहीं मिलते। यह स्थिति हिन्दी या किसी भी विकासशील भाषा के लिए अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। इसका समाधान शीघ्र ही होना चाहिए। इसके लिए व्यापक आयोजन और स्थायी व्यवस्था की अपेक्षा है : हिन्दी की प्रमुख संस्थाओं को स्वतंत्र रूप से और उत्साही प्रकाशकों के सहयोग से इस दिशा में उद्योग करना चाहिए।

बन्धुओं ! आज हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई है : राजनीति की वर्तमान गतिविधि इस तथ्य का संकेत कर रही है कि अतिवादी दृष्टिकोण राष्ट्र के हित में नहीं है और देश की जनता भी उन्हें स्वीकार नहीं कर रही। आज आवश्यकता है ऐसे रचनात्मक दृष्टिकोण की जो अपने परिवेश के अनुकूल अतीत की उपलब्धियों की भूमिका पर वर्तमान का संयोजन और भविष्य का निर्माण करे : राष्ट्र की समृद्ध परम्पराओं का निषेध न कर उनका विकास व संशोधन करे, आन्दोलन मात्र से संतुष्ट न होकर विधान को लक्ष्य बनाकर चले। हमारे साहित्य क संवर्धन के लिए भी ऐसे ही दृष्टिकोण की अपेक्षा है : उसके कल्याण का मार्ग भी यही है।

इस सम्मान और सौजन्य के लिए मैं एक बार फिर, अत्यंत विनीत भाव से, आपका धन्यवाद करता हूँ।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के सत्रहवें वार्षिकोत्सव का अध्यक्षीय भाषण।

गाँधीजी की राष्ट्रभाषा दृष्टि

–विजय बहादुर सिंह

गाँधीजी की मातृभाषा गुजराती थी। स्कूल से सीखी हुई भाषा अंग्रेजी थी। कहते हैं गाँधी की अंग्रेजी इतनी ताकतवर और धारदार थी कि अंग्रेज गवर्नर और अफसर उनके प्रत्येक शब्द प्रयोग पर कई-कई बार सोचते थे कि लिखने वाले ने इन शब्दों में कितना क्या भरा होगा। इससे यह अनुभव तो किया ही जा सकता है कि भाषा-ज्ञान की दृष्टि से गाँधी कितने समर्थ थे। आज के हमारे अपने समाज में ऐसे लोगों का भी वर्ग-समूह है जिनकी कोई अपनी मातृभाषा या घरेलू जबान नहीं बची। उनको सिर्फ अंग्रेजी में महारत हासिल है या कहिए कामचलाऊ अंग्रेजी आती है। अपने इस अकेले भाषा-ज्ञान पर वे स्वयं को आधुनिक भारतीय समाज का विकसित, सभ्य और सबसे समर्थ व्यक्ति मानते हैं। न केवल मानते हैं बल्कि इसी आधार पर वे सभ्यता की इस आँधी में सबसे अधिक फायदे के पायदान पर बहता हुआ पाते हैं। प्रश्न यह कि ऐसे लोगों का सचमुच अपना क्या कोई देश और राष्ट्र है? उनकी निगाह में तो यह सवाल ही पागलपन से भरा हुआ है। जहाँ सारी दुनिया एक होकर खड़ी हो वहाँ देश और राष्ट्र का प्रश्न कहाँ आता है।

गाँधीजी की सबसे बड़ी दिक्कत और चिन्ता यह थी कि वे उस 'देश' को फिर से रचना चाहते थे जो सदियों से बिखरा और टूटा-टाटा-सा था। बन जाने पर इसी को वे राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। वे मानसिक पिछड़ेपन के शिकार थे, प्रगति के विरोधी थे और भारतीय समाज का विकास नहीं देखना चाहते थे ऐसा चाहें तो बहुत लोग कह सकते हैं पर इस कहने में एकतरफापन और समझ का फेर कहीं ज्यादा है, देश और उसके लोगों की समझ और पहचान बेहद कम। आज के संसार में ऐसे लोगों का बोलबाला है इसलिए गाँधी इनके लिए गए-बीते दिनों के आदमी जैसे हो गए हैं। आश्चर्य फिर भी यह कि देश के जीवन में जब भी कोई छोटी-बड़ी विपत्ति आती है, संकट आ खड़ा होता है, भारत की विशाल आबादी जिस एक व्यक्तित्व को अपने लाइट हाऊस और मार्गदर्शक के रूप में देखता है, वह तो गाँधी ही हैं। इसका कारण यह कि गाँधी की चेतना की डोर देश की बुनियादी चेतना की डोर से एकाकार है।

आज इस पर सोचे जाने की जरूरत है कि आजादी के बाद इस देश के लोगों को आफत के समयों में बार-बार राम-कृष्ण की नहीं गाँधी की ही याद आती है। इसका एक कारण यह भी कि गाँधी हमारी परम्परा के सबसे ताजे, भरोसेमंद और उज्ज्वल इतिहास-अध्याय हैं।

लेकिन क्यों, किन कारणों के चलते? जवाब आएगा कि इस देश की आत्मा का पर्याय बन जाने के चलते।

इस बात को समझने के लिए गाँधी के भाषा-चिंतन जैसा प्रसंग बेहद कारगर होगा। इसलिए भी कि इस देश का सबसे दुखद और भयावह यथार्थ वह धार्मिक अलगाव और विद्वेष है जिसके चलते यह दो राष्ट्रों में बँट गया, सैकड़ों देशी रियासतें आ-आकर भारतीय राष्ट्र में मिली या मिलने को मजबूर हुईं (या की गई) फिर भी देश बँटा और उसका कारण धर्म बना। यानी दो कौमें जिनका धर्म अलग-अलग था। अन्य आधारों मसलन भाषाओं, जाति या प्रादेशिकता के नाम पर इस बँटवारे की माँग नहीं की गई। गाँधी इस भविष्य की दुर्घटना से परिचित थे या नहीं, इस पर फिलहाल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे दोनों धर्म-विश्वासों के लोगों की एकता के महान पक्षधर और पैरोकार थे। वे जानते थे कि अगर ये दोनों तनाव और मुठभेड़ की स्थिति में रहते रहे तो राष्ट्र क्या देश भी नहीं बनेगा। आज जैसी स्थिति है, उसे जानने वाले लोग समझते होंगे कि भारत के घाघ राजनीतिक दल इसी आधार पर अपनी ताकत पाते रहे हैं और राज किया है।

लोक-जीवन की घनिष्ठ एका और सामाजिक भरोसेमंदी को छिन्न-भिन्न कर इन सत्ताखोर दलों ने अपना जो इन्द्रजाल खड़ा किया है, उससे राष्ट्रीय जीवन के बुनियादी सवाल पीछे चले गए हैं। गाँधी इस तरह की सत्ता-राजनीति में भरोसा नहीं करते थे इसलिए तरह-तरह से यह कोशिश किया करते थे कि इन दोनों धार्मिक कौमों की दूरियाँ पाटी जाएँ, भय कम किए जाएँ और आपसी भरोसा बढ़ाया जाय। फिर उनका खूबसूरत-सा सपना यह था कि 1857 के आस-पास दोनों कौमों में जैसी सहज-स्वाभाविक एकता और भरोसेमंदी थी, वही बनी रहे और राष्ट्र आत्मनिर्माण की दिशा में निश्चिंत होकर आगे बढ़ सके।

गाँधी की भाषा-दृष्टि इसी परिस्थिति से उपजी थी। 'आत्मकथा' के भाग पाँच, अध्याय छत्तीस में गाँधी एक प्रसंग की याद करते हुए लिखते हैं– 'मुझे उर्दू-हिन्दी शब्द तो न सूझा। ऐसी खास मुसलमानों की सभा में युक्तिप्रधान भाषण करने का यह मेरा पहला अनुभव था। कलकत्ते में मुस्लिम-लीग में मैं बोला था सो चंद मिनटों के लिए, हृदय को स्पर्श वाला ही भाषण था। पर यहाँ मुझे विरुद्ध मतवाले समाज को समझाना था। पर मैंने संकोच छोड़ दिया था। दिल्ली के मुसलमानों के सामने मुझे शुद्ध उर्दू में लच्छेदार भाषण नहीं करना था, बल्कि अपना अभिप्राय मुझे टूटी-फूटी हिन्दी में समझा देना था। यह काम मैं मजे से कर पाया। हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्रभाषा बन सकती है इसकी यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। मैंने अंग्रेजी में भाषण दिया होता तो मेरी गाड़ी आगे नहीं सरकती और मौलाना साहब ने जो चुनौती दी थी उसे देने का मौका न आया होता और आता तो मुझे जवाब न सूझता।

उर्दू या गुजराती शब्द हाथ न लगने से मैं शरमाया, पर जवाब तो दिया ही। मुझे 'नान-को-आपरेशन' शब्द सूझा। मौलाना साहब जब भाषण कर रहे थे उस वक्त मेरे मन में यह

भाव उठ रहा था कि वह स्वयं बहुत मामलों में जिस सरकार का साथ दे रहे हैं, उस सरकार के विरोध की बात करना बेकार हैं। मैंने सोचा कि जब हमें तलवार से विरोध नहीं करना है तो साथ न देना ही सच्चा विरोध होगा। और मैंने 'नान-को-आपरेशन' शब्द का प्रथम प्रयोग सभा में ही किया। अपने भाषण में उसके समर्थन में मैंने अपनी दलीलें दीं। उस समय इस शब्द में क्या-क्या समा सकता है इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। इससे मैं ब्योरे में उतर न सका। मुझे तो इतना ही कहने की याद है—''मुसलमान भाइयों ने एक दूसरा भी महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे पर शायद यदि सुलह की शर्ते उनके खिलाफ जाएँ तो वे सरकार की सहायता करना बंद कर देंगे।'' गाँधी आगे लिखते हैं, ''यह शब्द कुछ महीनों तक तो इस सभा में ही गड़ा रहा। एक महीने बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वहाँ मैंने असहयोग के प्रस्ताव का समर्थन किया। उस वक्त मैं तो यही आशा रखता था कि हिन्दू-मुसलमानों के लिए असहयोग का अवसर न आयेगा।''

भाषा का प्रश्न गाँधी के लिए हमेशा इसी कौमियत के साथ न जुड़ा होता अगर वे यह मानकर चल रहे होते कि मुसलमान जाएँ तो जाएँ। वे चाहते थे कि अंग्रेजों के बाद यह देश वैसा बने जैसा मुसलमान और हिन्दू दोनों चाहते हैं। इसलिए वे उर्दू और हिन्दी की स्वतंत्रता और मेल-जोल, या कहें पारस्परिक झुकाव से विकसित हुई उस भाषा की बात करने लगे थे जिसमें भारतीय राष्ट्र और समाज के दोनों घटक अपनी बात कह सकें और अपनी भावनाओं को प्रतिबिम्बित होना अनुभव कर सकें। आत्मकथा के 'रंगरूट भरती' वाले अध्याय में वे लिखते हैं—''वाइसराय की तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाही देकर सरकार की मदद करने के प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में बोलने की माँग की। वाइसराय ने उसे मंजूर किया पर साथ ही अंग्रेजी में भी बोलने को कहा। मुझे व्याख्यान तो देना ही नहीं था। मैं जो बोला वह इतना ही था, 'मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा ख्याल है और उस जिम्मेदारी को समझते हुए भी मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।'

''हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए बहुतों ने मुझे धन्यवाद किया। वे कहते थे कि वाइसराय की सभा में इस जमाने में हिन्दुस्तानी बोलने को यह पहली मिसाल है।'' गाँधी यहीं रुकते नहीं। आगे की उनकी व्यथा, चिन्ता और सोच भी देखें—''धन्यवाद और पहला उदाहरण होने की बात मुझे चुभी। मैं शरमाया अपने ही देश में, देश से संबंध रखने वाले काम की सभा में देश की भाषा का बहिष्कार या उसकी अवगणना कितने दुःख की बात है। और मुझ जैसा कोई हिन्दुस्तानी में एक या दो जुमले बोल दे तो इसमें धन्यवाद किस बात का? यह प्रसंग हमारी गिरी हुई दशा की सूचना देता है।''

यहाँ यह भी समझने की बात है कि गाँधी का यह दिमाग क्या पहला भारतीय दिमाग था जो इस तरह सोच और देख रहा था? जवाब होगा—नहीं, तेरहवीं सदी में इसी दिमाग से

अमीर खुसरो ने सोचा था जब वे अपनी फारसी पीछे कर उस देशभाषा की तरफ आए जिसके चलते आज वे हमारे बहुत बड़े सांस्कृतिक-व्यक्तित्व बने हुए हैं। अमीर खुसरो उस जमाने के बहुत बड़े और सुप्रतिष्ठित आमजनों में से थे। उन्हें पाँच या छह भाषाएँ आती थीं। फिर भी वे क्यों देशभाषा की ओर झुके और मुड़े तो जवाब होगा कि वे उस विशाल आम भारतीय समाज के भरोसे के आदमी के रूप में जीना चाहते थे जो कि सच हुआ। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह उदाहरण गौतम बुद्ध और महावीर भी प्रस्तुत करते हैं। दोनों क्षत्रिय राजकुमार थे। संस्कृत की गहरी जानकारी रखते थे पर बातचीत पालि और प्राकृत में इसलिए की कि वृहत्तर समाज से जुड़े सकें। कवियों में दो और बड़े उदाहरण तुलसी और गालिब के हैं। एक के पास संस्कृत की अपार दक्षता थी, दूसरे के पास फारसी की। फिर भी ये अपरिचित ही रह जाते अगर जनभाषा अवधी और रेख़्ता (उर्दू) में काव्य-रचना न करते। अंग्रेजी-दाँ और अंग्रेजीपरस्त नेहरू को जब जनता से बातचीत करने की जरूरत महसूस होती वे भी हिन्दुस्तानी में आते।

गाँधी की भाषा-दृष्टि को इस बड़े सांस्कृतिक फलक पर देखने की जरूरत है। लिखने वालों ने यह ब्यौरा भी दिया है कि गाँधीजी के राष्ट्रभाषा संबंधी चिंतन को दो चरणों में बाँटकर देखने की जरूरत है। उनके अनुसार पहला चरण 'हिन्द स्वराज' अर्थात् 1909 से लेकर 1936-37 तक का है जिसमें गाँधी लगातार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात करते रहे, लेकिन 1936 के बाद वे आश्चर्यजनक ढंग से हिन्दुस्तानी की वकालत करने लगे। 'हरिजन' के अक्टूबर 1936 के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा—'हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू' पर। अपने मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा— ''इस हिन्दुस्तानी के एक-एक शब्द के अनेक पर्याय होने चाहिए ताकि यह विभिन्न प्रांतीय भाषाओं से समृद्ध और विकासोन्मुख राष्ट्र की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। बंगालियों या दक्षिण भारत के लोगों के सामने बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी में संभवतः संस्कृत से लिए गए शब्दों का अधिक प्रयोग होगा। वही भाषण जब पंजाब में दिया जाएगा तो उसमें अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता होगी। यही बात उस श्रोता वर्ग के संदर्भ में लागू होगी जिसमें मुसलमानों की प्रमुखता हो क्योंकि वे संस्कृत से लिये हुए बहुत से शब्द नहीं समझ सकते।''

स्पष्ट ही गाँधी की यह दृष्टि जितनी विविधतापूर्ण थी, उतनी ही बहुआयामी भी। इस मार्फत वे उस अलगाववाद से भी लड़ना चाहते थे जो सिर उठा रहा था। उस नए राष्ट्र का नवनिर्माण भी करना चाहते थे जो उनके सपनों में था और भाषा उसमें अपनी भूमिका एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में निभा सकती थी।

एम-29, निराला नगर
दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल

राजभाषा हिन्दी व भाषायी अस्मिता का यथार्थ

—पुष्पेंद्रकुमार शर्मा

अंग्रेजी भाषा के इतिहास से जो लोग अच्छी तरह से परिचित हैं वे यह बात भलीभाँति जानते हैं कि काफी समय पूर्व अंग्रेजी भाषा की स्थिति बहुत दरिद्र थी। इस भाषा में कुछ ही गिने-चुने शब्द थे। उस समय लैटिन भाषा अंग्रेजी भाषा से कहीं अधिक बढ़कर थी तथा वह यूरोप की अंतरराष्ट्रीय भाषा थी। सतरहवीं शताब्दी तक इंग्लैंड और यूरोप के लोगों के बीच कूटनीतिक संपर्क इसी भाषा के माध्यम से रखा जाता था और सभी अंतरराष्ट्रीय विवाद इसी लैटिन भाषा में निबटाए जाते थे। इंग्लैंड में ऐसे अनेक लोग थे जो कि लैटिन को स्थायी भाषा तथा अंग्रेजी को क्षणभंगुर भाषा मानते थे और लैटिन में ही अपने शाश्वत मूल्यों वाले ग्रंथों की रचना करते थे। इतना ही नहीं चौदहवीं, पंद्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी भाषा अंग्रेजी भाषा से अधिक विकसित व समृद्ध थी। इंग्लैंड में उस समय ऐसे अनेक साहित्यकार थे जो फ्रांसीसी में अपनी रचना करके प्रसिद्धि पाना चाहते थे।

किसी समय इंग्लैंड के आभिजात्य वर्ग पर फ्रांसीसी भाषा का वैसा ही प्रभाव था जैसा कि आज कुछ उच्च कुलीन कहे जाने वाली हिन्दुस्तानियों पर अंग्रेजी भाषा का है। किन्तु लैटिन या फ्रांसीसी भाषा को समृद्ध मानकर अंग्रेज जनता ने उसे राष्ट्रभाषा नहीं माना था। बल्कि उसके साहित्यकारों ने अपनी भाषा अंग्रेजी को ही समृद्ध किया और उसे यूरोप की अन्य भाषाओं के समान सम्मान दिलाया। सभी जानते हैं कि अंग्रेजी भाषा पहले राजभाषा के पद पर आसीन हुई। उसके बाद वह समृद्ध हुई। यह वही अंग्रेजी भाषा है जो उस समय की समृद्ध भाषाओं—लैटिन व फ्रांसीसी से संघर्ष करके समृद्ध हुई। ''यदि समृद्धि के बल पर कोई भाषा अंग्रेजी की तरह विश्व भाषा बनती तो पाणिनी और कालिदास की भाषा मृत भाषा न कहलाती : दांते, गेटे, तोल्स्तोय की भाषाएँ भी विश्व भाषा बन जातीं।'' (भारत की भाषा समस्या (1978) — डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 116)

परतंत्र भारत देश में भाषा की अपनी अलग तरह की समस्या थी जिसमें अंग्रेज शासकों ने यहाँ की जनता पर अंग्रेजी भाषा को एक शासकीय भाषा के रूप में थोपा अर्थात् अंग्रेजी शासकों ने यहाँ की जनता के सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक विकास को रोका। अपना वर्चस्व बनाने की कोशिश करते हुए भारत को एक अंतहीन दासता की ओर ले जाने का काम किया।

अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अपनी प्रिय विश्व भाषा के पक्ष में वे सारी दलीलें देते हैं जो कि लिबरल राजनीतिक विशारदों ने दी थी और ये 'लिबरल' लोग अंग्रेजी राज व अंग्रेजी भाषा के बारे में अत्यंत उदार परंतु हिन्दुस्तानी जनता व हिन्दी भाषा के प्रति न केवल पूरी तरह अनुदार थे बल्कि इसकी उपेक्षा भी करते थे। ये अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अंग्रेजी राज को प्रगतिशील तथा अंग्रेजों को भारत की अराजकता दूर करने वाले व यहाँ न्याय तथा शांति की व्यवस्था कायम करने वाले लोगों के रूप में मानते थे। भारतीय जनता के क्रांतिकारी आंदोलन से दुःखी ये उदारवादी लोग नौकरियों में रियायत पाने के लिए परम प्रगतिशील अंग्रेज शासकों के सामने प्रार्थनापत्र पेश करते हुए अपने आपको सम्मानित महसूस करते थे। ऐसे ही तथाकथित भारतीय परंपरा निबाहने वाले इन लोगों का मानना है कि अंग्रेजी भाषा के राजभाषा न रहने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाएगा। देश में गृह युद्ध छिड़ जायेगा। इनको सबसे बड़ा खतरा यह है कि हिन्दी के राजभाषा हो जाने पर हिन्दी वाले नौकरियाँ हथियाने लगेंगे और इनका खुद का वर्चस्व समाप्त हो जाएगा। इस तरह अंग्रेजी न रहने से विश्वसंस्कृति के आदान-प्रदान के रास्ते बंद हो जाएंगे।

अंग्रेजी भाषा को राजभाषा बनाए रखने के पक्ष में उदारपंथियों की दलीलों का खंडन देशभक्त भारतवासियों ने तो किया ही था साथ ही उनका खंडन भारत प्रेमी अंग्रेजों ने भी किया था। उदार हृदय सी.एफ.एंड्रूज ने 1939 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'द ट्रू इंडिया' में स्पष्ट रूप से लिखा था ''अभी तक अंग्रेजी भाषा को समझने वाले मुट्ठीभर बुद्धिजीवी हैं किन्तु यह उभरती हुई साधारण भाषा जो हिन्दुस्तानी कहलाती है, उत्तर व मध्य भारत में पच्चीस करोड़ जनता द्वारा आसानी से समझी जाती है। दक्षिण में भी जहाँ द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं, उत्तर की इस भाषा से लोग थोड़े-बहुत परिचित हो गए हैं।'' तब 1939 से लेकर अब तक दक्षिणी भारत में हिन्दी पढ़ने व समझने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है जबकि अंग्रेजी पढ़ने और समझने वालों की संख्या उसी अनुपात में नहीं बढ़ी है। सच तो यह है कि अंग्रेजी भाषा के समर्थक अभी भी बहुत ही कम बुद्धिजीवी हैं।

भारत देश की भाषा, संस्कृति और यहाँ के साहित्य के बारे में जितनी चिंता अपने देश के लेखकों और बुद्धिजीवियों को थी उससे भी कहीं अधिक चिंतित भारत प्रेमी अन्य विदेशी लेखक और विचारक भी थे। भारत के प्रति प्रेम रखने वाली ब्रिटिश महिला ऐनीबेसेंट ने अपनी पुस्तक 'इंडिया बाउंड एंड फ्री' में राजभाषा अंग्रेज़ी के विरुद्ध अपना ही कथन उद्धृत किया है कि ''जब मैकाले ने अंग्रेज़ी शिक्षा पर जोर दिया था तब वह भारत के महान साहित्य को घृणा की दृष्टि से देख रहा था। लड़के शिक्षा पाते थे और अपने देश की श्रेष्ठ कृतियों से अपरिचित रहते थे। किसी देश में राष्ट्रीयता के भाव नष्ट करने का इससे अधिक कुशल कोई और उपाय नहीं है कि एक विदेशी भाषा को उच्च वर्गों की भाषा, क़ानून और अदालतों की, कॉलेजों की

भाषा बना दिया जाए और सरकारी नौकरियों के लिए उस विदेशी भाषा की जानकारी अनिवार्य कर दी जाए।'' (वही, पृ. 118)

सर्वविदित है कि ''ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अंग्रेजी को अनिवार्य राजभाषा के रूप में भारत पर इसलिए लादा कि वह जनता का शोषण कर सके। इस प्रकार उसने भारत की अनेक जातियों की भाषाओं की प्रगति में बाधा डाली। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारतीय जनता ने यह माँग बराबर पेश की कि शिक्षा संस्थाओं, अदालतों, शासनतंत्र आदि में अंग्रेजी की जगह उसकी भाषा का चलन हो। जातीय प्रदेश में अंग्रेजी की जगह उसकी भाषाओं का व्यवहार हो।'' (वही पृ. 68) राष्ट्रीय नेताओं से आशा की जाती थी कि सन् 1947 में आजादी मिल जाने के बाद इस मांग को वे पूरा करेंगे। लेकिन विभिन्न कारणों से वे उसे पूरी नहीं कर सके। इसका सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि अक्सर ये नेता स्वयं अंग्रेजी में डूबे होते हैं। उन्होंने भारतीय भाषाओं के विकास के लिए प्रायः कुछ भी नहीं किया। दूसरा यह है कि वे विभिन्न जातीय भाषाओं में संस्कृत के शब्दों को ठूंसने की कोशिश कर रहे थे। जिससे कि आम जनता देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में भाग न ले सके। और इस संस्कृतनिष्ठ भाषा को जब लोग आत्मसात नहीं कर पाते तब वे फिर कुछ समय के लिए अंग्रेजी की शरण लेते हैं। अतः हिन्दी भाषा को आम बोलचाल के शब्दों से युक्त करते हुए उसे सरल बनाकर प्रयोग में लाना अधिक उपयोगी महसूस किया गया। आम जनता चाहती है कि उन पर अंग्रेजी न लदी रहे जैसा कि वह अब तक लदी रही है। बड़े-बड़े पूंजीपति इस बात को जानते हैं और पूछते हैं कि अंग्रेजी जाए लेकिन उसकी जगह कौन लेगा। इस तरह के प्रश्न करके वे आम जनता को भ्रमित करने की कोशिश करते हैं। परंतु आम जनता को यह बताने की जरूरत है कि इसका जवाब यह है कि जब अंग्रेजी हट जाएगी तब प्रत्येक भारतीय भाषा को अपने स्वत्व की प्राप्ति होगी।

अंग्रेजी भक्त ये लोग अहिंदी भाषी भारतीयों के मन में यह भय भी पैदा करने की कोशिश करते रहे है कि हिन्दी को सम्पर्क भाषा स्वीकार कर लेने पर उनकी मातृभाषाओं की उन्नति नहीं हो सकेगी क्योंकि हिन्दी सबको कुचलकर अपना प्रभाव बढ़ाती चली जाएगी। हिन्दी भाषी आर्य दक्षिण के अहिंदी भाषी द्रविड़ों की संस्कृति को नष्ट करे देंगे और उन पर अपनी आर्य संस्कृति को थोप देंगे। परन्तु ऐसे दुष्प्रचार देश की सांस्कृतिक भावात्मक एकता को नुकसान पहुँचाते हैं।

कुछ लोग विवाद उठाने के लिए हिन्दी-उर्दू के सवाल को उछाल देते हैं। परंतु वे यह भूल जाते हैं कि हिन्दी-उर्दू मूलरूप से एक हैं भले ही अपने साहित्यिक रूपों में भिन्न हैं। साम्राज्यवाद ने सामंतवाद कायम रखा और पूंजीवादी वर्ग में हिन्दी-मुस्लिम आधार पर भेद पैदा किया। हिन्दी और उर्दू को हिन्दू धर्म व इस्लाम धर्म से जोड़कर देखा जाने लगा जो कि बिल्कुल

गलत है। उर्दू में ईरान व अरब की साहित्यिक परम्परा को कायम रखा गया है। उसकी साहित्यिक शब्दावली अरबी व फ़ारसी के आधार पर रची गई है जबकि हिन्दी की साहित्यिक शब्दावली का आधार संस्कृत भाषा है और वह भारत की साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करती है। हिन्दी व उर्दू की शैलीगत समानता उनकी समीपता को स्वतः सिद्ध करती है।

किसी भाषा को यदि धर्म के साथ जोड़ा जा सकता होता, तो एक समय संसार के सभी देशों पर शासन करने वाले अंग्रेज और उस समय अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग और अंग्रेजी भाषा के पक्षधर सभी लोग अपने-अपने धर्म छोड़कर ईसाई हो गए होते परंतु ऐसा नहीं हुआ। आज हिन्दी भाषा को बोलने, पढ़ने व समझने वाले संसार के केवल हिन्दू ही नहीं बल्कि मुसलमान, सिख, ईसाई तथा संसार के अन्य अनेक धर्मों व संप्रदायों, देशों के लोग हैं। भाषा संपर्क और संप्रेषण का माध्यम होती है। वह केवल मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर या गुरुद्वारे की भाषा नहीं होती।

इसी तरह यह सवाल उठाया जाता है कि किसी भाषा के आ जाने से अन्य भाषा या भाषाओं का अहित होता है। भाषा चाहे कोई भी हो अपने आप में महत्त्वपूर्ण होती है और उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। भाषाएँ एक-दूसरे से कुछ-न-कुछ लेकर समृद्ध होती हैं। किसी का अहित नहीं करतीं। इसी तरह हिन्दी भाषा से किसी भी भारतीय भाषा का अहित होने का सवाल ही नहीं उठता है कि क्योंकि हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएँ मूल प्राचीन भाषा संस्कृत से विकसित हुई हैं और उनमें अनेक स्तर पर समानताएँ है।

हिन्दुस्तानी भाषा के अतीत में झांककर यदि देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। ''सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में ही व्यापार की उन्नति होने पर यह भाषा (हिन्दुस्तानी जाति की भाषा) देश के विभिन्न व सुदूर प्रदेशों तक पहुँच रही थी। न केवल भारत के व्यापारी यह भाषा सीखते थे वरन् विदेशी सौदागर भी, अंग्रेज़ी की श्रेष्ठता पर ध्यान न देकर यही भाषा सीखते थे। यही कारण है कि इटली के यात्री मनुच्ची ने शिवाजी से हिन्दुस्तानी में बातचीत की थी। महाराष्ट्र और तंजौर में हिन्दी में कविता रचने वालों का अस्तित्व इस भाषा की लोकप्रियता का प्रमाण है।'' इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि अंग्रेजी के बिना न राष्ट्रीय आंदोलन होता और न राष्ट्रीय एकता होती। अंग्रेजी ने देश के एकीकरण में बाधा डाली। उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों और धर्म प्रचारकों ने अपने कार्य के लिए इस भाषा का इस्तेमाल किया। उस समय की स्थिति के अनुसार यह सहज स्वाभाविक ही था क्योंकि संख्या की दृष्टि से संभवतः चीनी जाति को छोड़कर हिन्दुस्तानी जाति संसार की सबसे बड़ी जाति है। यही कारण है कि भारत की विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक संपर्क के लिए उसका व्यापक व्यवहार हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारत की भाषा समस्या' की भूमिका में लिखा है। ''19 वीं सदी में 'राजपूताना' में स्थित अंग्रेज अफसर वहाँ

के राजाओं से हिन्दी में ही पत्र व्यवहार करते थे। राजा बलवंतसिंह कॉलेज के हिन्दी अध्यापक डॉ. श्री मोहन द्विवेदी की देखरेख में महेशचंद्र गुप्त राजस्थान के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का प्रयोग (1857-1974) विषय पर शोध कर रहे थे। उन्होंने 1857 से पहले के और उसके बाद के भी काफी दस्तावेज इकट्ठे किये हैं। इन दस्तावेंजों में वे पत्र हैं जो अंग्रेजों ने राजाओं को लिखे। इनके अतिरिक्त वे पत्र हैं जो राजाओं ने अंग्रेजों को लिखे। साथ ही ऐसे पत्र हैं जो राजाओं ने एक-दूसरे को लिखे। यदि राजस्थान में 19वीं सदी में हिन्दी राजभाषा के रूप में काम आती थी और उसका व्यवहार हिन्दुस्तान के लोग ही नहीं, अंग्रेज भी करते थे तो कोई कारण नहीं कि 20वीं सदी के अंतिम चरण में अंग्रेजी-प्रेमी भारतवासी अपना अंग्रेजी मोह त्यागकर हिन्दी का उपयोग न कर सकें।'' (वही भूमिका पृ. 13)

राष्ट्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा और देश की आर्थिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राज्यों और प्रदेशों की जनता की एकता और परस्पर भाईचारा और दृढ़ किया जाए। यह प्रश्न सहज रूप में हमारे सामने आता है कि जिन लोगों की मातृभाषा अलग-अलग है, वे किस भाषा में परस्पर बातचीत करें। इस समस्या के समाधान के संबंध में भारत के प्रसिद्ध शिक्षाविद डॉ. त्रिगुण सेन, जो कि एक समय भारत सरकार में केन्द्रीय शिक्षा मंत्री थे, ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया था। उन्होंने त्रिभाषा फार्मूला के स्थान पर द्विभाषा फार्मूला सुझाया जिसके अंतर्गत कहा गया था कि विद्यार्थी दो भाषाएँ पढ़े। पहली भाषा उसकी अपनी मातृभाषा हो और दूसरी भाषा हिन्दी या अंग्रेजी हो। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय विद्यार्थी अंग्रेजी और हिन्दी में से कौन-सी भाषा को पढ़ने के लिए प्राथमिकता देता है और जिस भाषा को भारत देश के बहुमत विद्यार्थी पढ़ने के लिए स्वीकारें उसी को राजभाषा यानी संपर्क भाषा घोषित कर दिया जाए। यहाँ किसी अन्य भारतीय भाषा से कोई भी विरोध नहीं हो सकता। हमारा विरोध तो विदेशी भाषा अंग्रेजी से है और प्रेम है हिन्दी और भारतीय भाषाओं से।

हिन्दी पढ़ने-लिखने वाले अहिन्दी भाषियों की संख्या में काफी तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है। ये लोग जब हिन्दी पढ़ते हैं तब अपनी भाषा के साहित्य से हठात उसकी तुलना भी करते हैं और उनका दृष्टिकोण हिन्दी भाषियों की तुलना में अधिक आलोचनात्मक होता है।

राजनीति के वर्तमान परिदृश्य को भाषा के साथ जोड़ना अधिक सामयिक इसलिए भी है कि हमारे नेता अपनी चुनावी विजय के बाद उसी भारतीय भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं जिसका कि वे अपने चुनावी क्षेत्र के मंचों पर करते रहते हैं। भारतीय भाषाओं के प्रयोग के बारे में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएंगे। अंग्रेज़ी में बोली और लिखी गई प्रविधि या तकनीक जहाँ स्व-केंद्रित और जन मानस से दूर होगी वहीं हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में व्यक्त तकनीक जनमानस के माध्यम से बहु-जनोपयोगी तथा सभी को सुलभ होगी। सहज और साफ सुथरा जीवन जीने से जीवन मूल्यों में एक नवीनता आती है। यही कारण है कि चिकित्सा-

औषधि विज्ञान की प्रक्रियाओं को सामान्य जनभाषा में समझकर देश के रहन-सहन में प्रांजलता व निखार आया है।

हिन्दी व भारतीय भाषाओं को अपनाकर शारीरिक आधि-व्याधि के निराकरण से जनचेतना जागृत हुई है। इस संबंध में महात्मा गांधी ने लगभग सत्तर वर्ष पहले यह बात कही थी कि ''इस अंग्रेजी के अंध भक्त आज भी जन संपर्क स्थापित करने के लिए अंग्रेजी की दुहाई दे रहे हैं। अंग्रेजी भारत में अंग्रेज शासकों और उच्च वर्ग को जनता से दूर बनाए रखने का ही साधन बनी रही है, जनसंपर्क का नहीं।'' अपनी कुर्सी बचाए रखने तथा अपने परिवार वालों के लिए कुर्सी सुरक्षित बनाए रखने के लिए आज भी अंग्रेजी को उसी आसन पर प्रतिष्ठित बनाए रखने की नाकाम कोशिशें जारी हैं। परंतु अब सरकारी तंत्र की ओर से कुछ ऐसा किया जा रहा है जिससे नई संभावनाएँ पैदा हुई हैं। भारत सरकार के सभी केन्द्रीय मंत्रालयों, विभागों में जनहित को ध्यान में रखते हुए द्विभाषिकता की अनिवार्यता के दौर से सभी जनकल्याण संबंधी विकास कार्य राजभाषा हिन्दी के माध्यम से लोगों के सामने आएं तो देश की सबसे अधिक जनसंख्या लाभान्वित होगी। इस तरह उन्हें अपने अधिकारों व अपने दायित्वों का अहसास अपनी ही भाषा के माध्यम से हुआ और इस जन उद्बोधन एवं चेतना से अनेकानेक नव विकास हुए। एन.सी.सी. जिसका आदर्श वाक्य 'एकता और अनुशासन' है, उससे भी जनभाषा हिन्दी के माध्यम से देश के नौजवानों में चरित्र, नेतृत्व, अनुशासन, धर्मनिरपेक्षता की भावना, खेल भावना, निस्वार्थ सेवा की भावना का विकास हो रहा है। ''सैन्य स्कूलों और अकादमियों में भी हिन्दी माध्यम तथा एक विषय के रूप में हिन्दी का ज्ञान प्रदान किया जाता है।'' (भाषा और उत्पादकता के गहरे रिश्ते—अशोक कुमार चोपड़ा, राजभाषा भारती, अंक 75 पृ. 19) अनेक सरकारी निगमों के नाम हिन्दी में रखे जाना राजभाषा हिन्दी की नेक भावना का ही प्रतिफल है। इन उपक्रमों में बना साज-सामान तथा उपकरण आदि के नाम हिन्दी में रखा जाना जैसे पृथ्वी, अग्नि, आकाश, नाग आदि हिन्दी के प्रयोग की भावना से प्रेरित है।

देश में कृषि व्यवस्था में हुए आमूल परिवर्तन की एक झलक से ही इस बात का अहसास हो जाता है कि भारतीय किसान जिनमें 99 प्रतिशत ऐसे हैं जो अंग्रेजी नहीं जानते और अपनी भाषा अच्छी तरह समझते हैं। जब उन्हें कृषि वैज्ञानिकों, खेती व बागवानी विभाग के अधिकारियों व कर्मचारियों ने खेती में काम आने वाले कृषियंत्रों, नए उर्वरकों, बीजों की जानकारी उनकी भाषा में दी तो वे बहुत आसानी से न केवल उनके फायदों को समझ गए बल्कि उनका उपयोग शुरू कर दिया और कृषि उत्पादनों में आशातीत बढ़ोतरी हुई। एक समय देश में खाद्यान्न की कमी की जो स्थिति थी, देश उस स्थिति से बहुत जल्दी ही न केवल उबर गया था, बल्कि आत्मनिर्भर हो गया और कुछ समय के लिए खाद्यान्न का निर्यात भी किया। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के बावजूद देश में खाद्यान्न की कोई कमी नहीं है। खाद्यान्नों की मात्रा

में हुई इस बढ़ोत्तरी के साथ खाद्यान्नों की गुणवत्ता में भी सुधार हुआ। इसका कारण मिट्टी की जाँच के परिणामस्वरूप उर्वरक तथा उन्नत बीज आदि का उपयोग करने के बारे में उचित सलाह है। इस तरह कृषि के लिए उपयोगी यंत्रों, उर्वरकों की गुणवत्ता, भूमि तथा जल संरक्षण, बारानी खेती, आदि सभी संकल्पनाओं की सभी तकनीक प्रक्रियाओं को किसान की अपनी भाषा में समझाकर अपेक्षित परिणाम प्राप्त करना अपने आप में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसका श्रेय हिन्दी और भारतीय भाषाओं को जाता है। कृषि के इस विशाल क्षेत्र में पशुपालन, मांस उत्पादन/प्रसंस्करण और निर्यात, चारा और दाना, पशुधन स्वास्थ्य, मुर्गी पालन, डेयरी विकास, समुद्री उत्पादन तथा परंपरागत कछुओं के लिए कल्याण कार्यक्रम जैसे विविध कार्यकलाप आते हैं और इन सभी में देश की अपार जनशक्ति कार्यरत है और यह अपार उपलब्धि हिन्दी व भारतीय भाषाओं के जरिए आशातीत परिणाम सामने ला रही है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत शिक्षा—बुनियादी शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, व्यवसायिक शिक्षा जैसी संकल्पनाएँ अपने आप में हिन्दी व भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारत के जन-जन के बीच सार्थक हो सकती हैं। प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा तथा महाविद्यालय और विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ नवोदय विद्यालयों के माध्यम से शिक्षा का हिन्दी व भारतीय भाषाओं के माध्यम से प्रसार हो रहा है जिसके अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के प्रतिभावान बच्चों को शिक्षा का समुचित अवसर प्रदान किया गया है।

स्पष्ट है कि कोई भी तकनीकी प्रविधि या जानकारी देश में आम आदमी तक तभी पहुँच सकती है जब उसे जनभाषा अर्थात हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से बताया जाएगा। चिकित्सा के क्षेत्र में इलाज की अनेक पद्धतियाँ- ऐलोपैथी, आयुर्वेदिक, होम्योपैथी, यूनानी प्रचलित हैं परन्तु ऐलोपैथी पद्धति के अंतर्गत डॉक्टर दवाएँ लिखता है— कैमिस्ट या दवा विक्रेता से ग्राहक दवाई लेता है और पूछता फिरता है कि क्या यह वही दवा है जो डॉक्टर ने पर्चे में लिखी है क्योंकि दवाई का नाम दवाई के रैपर पर अंग्रेजी में लिखा होता है, इसमें मरीज (बीमार व्यक्ति) तथा उसकी देखभाल करने वाला व्यक्ति उस दवाई के नाम अंग्रेजी में होने के कारण उससे अपरिचित ही रहता है। यदि इन दवाओं के रैपर पर दवाओं के नाम हिन्दी व भारतीय भाषाओं में हों तो आम आदमी दवा के नाम से अधिक परिचित हो जाएगा। अनेक ऐसी दवाएं जिनके नाम हिन्दी में भी लिखे होते हैं, आम आदमी परिचित हो चुके हैं स्वयं पढ़ भी लेते हैं। इसी तरह दैनिक उपयोग की अनेक चीजें जो बाज़ार में मिलती हैं, क्षेत्रीय भारतीय भाषा में होने के कारण लोगों के लिए वे जाने-माने नाम बन गए हैं चाहे वे साबुन हों, तेल हों या डिब्बा बंद अन्य दैनिक उपयोग की चीजें हों।

देश में स्थिति ऐसी बन गई है जहाँ एक तरफ अंग्रेज़ी भाषा में काम करने पढ़ने-लिखने वाला वर्ग है और दूसरी ओर हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं में लिखने-पढ़ने व काम करने वाला

वर्ग है। दूसरा वर्ग यह भली-भाँति समझ चुका है कि भारतीय भाषाओं का उपयोग और उनका विकास ही, हमारी अपनी अस्मिता को बनाए रख सकता है; हमारी भारतीय होने की पहचान बनाए रख सकता है; हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता तथा राष्ट्रीय गौरव को संसार में उपयुक्त स्थान दिलाने में सक्षम हो सकता है। कवि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सही लिखा था :–

निज भाषा उन्नति अहै–सब उन्नति कौ मूल।
निज भाषा उन्नति बिना मिटै न हिय कौ सूल।।

भाषा पत्रिका से साभार

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि

—अजय कुमार पटनायक

एक उत्कृष्ट आलोचक वह है जो पहले पूरी रचनात्मक परम्परा का पर्यवेक्षण करता है और समकालीन साहित्य की नवीन उपलब्धियों को आत्मसात करता हुआ दोनों का समन्वित आकलन करता है। सर्जनात्मक प्रतिभाप्रसूत रचनात्मक साहित्य अपनी गतिशीलता में कुछ-न-कुछ नया जोड़ता है। सृजनशील प्रतिभाओं का यह लक्षण होता है कि वे अपने पूर्ववर्त्तियों की सीमाओं का विस्तार करते हुए अपने युग को नये प्रतिमानों से समृद्ध करें।

आलोचक प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के परम शिष्य नन्ददुलारे वाजपेयी उनसे काफी प्रभावित थे। लेकिन अपने स्वतन्त्र चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण एवं निर्भीक अभिव्यक्ति के कारण वे शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा-जगत के एक प्रकाश स्तम्भ माने जाते हैं। गुरु जी के कई विवेचनों से वे सहमत थे, पर कइयों का सतर्क खण्डन भी किया। वस्तुतः छायावादी साहित्य का विशदन एक रुचि परिष्करण का स्वतःस्फूर्त्त संकल्प लेकर वे समीक्षा के क्षेत्र में उतरे। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक लेख में छायावाद काव्यान्दोलन के प्रति शुक्लजी की नाराजगी स्पष्ट है—"अब तक जो लिखा गया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह छायावाद कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है!" छायावादी काव्य के तमाम उपकरण— वैयक्तिकता, कल्पनावाद, अध्याम, अभिव्यंजनावादी प्रभाव, प्रभाववादी प्रभाव, रहस्यवादी रुझान, कृत्रिम भाषा, छन्दोमुक्ति का आग्रह, गीतिमयता—उनकी रुचि के विरुद्ध थे। शुक्ल जी के इन आक्षेपों को मनोगत करते हुए वाजपेयी जी ने कहा—"अक्सर कहा जाता है कि यह नवीन भवन विदेशों की नकल पर बना है। इसमें पाश्चात्य मध्यवर्गीय उत्थान काल के आदर्श और डिजाइनों की अनुकृति है। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही कहना है कि ईंट, चूना, गारा और मिट्टी जब स्वदेशी हैं तो केवल डिजाइनें विदेशी होने से क्या? और वह भी इसी अर्थ में विदेशी कही जा सकती है कि विदेशों में उससे मिलती-जुलती इमारतें बन चुकी थीं। किन्तु वे डिजाइनें स्वतः कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता के प्रभाव से बनी हैं—उसमें एक-दूसरे की नकल के लिए अधिक गुंजाइश ही नहीं थी।" शुक्ल जी द्वारा छायावाद की भर्त्सना के उत्तर में वाजपेयी उन पर पाश्चात्य बुद्धिवादियों के प्रभाव की बात करते हैं। द्विवेदीयुगीन तीन महारथियों—मैथिलीशरण, प्रेमचन्द तथा रामचन्द्र शुक्ल—की गलतफहमी की ओर संकेत करते हैं कि ये विषय की ऊँचाई से काव्य की ऊँचाई तय करते हैं। इन तीनों को ही वाजपेयी जी ने बुद्धिवादी, आदर्शवादी और नीतिवादी

कहा है। जिन-जिन बातों को शुक्लजी ने छायावाद की कमी के रूप में गिनाया था, उन्हीं बातों को वाजपेयी जी ने इस काव्यान्दोलन की महत्ता और व्यापक विशेषता सिद्ध की।

वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-चिन्तन के पश्चात् हिन्दी साहित्य-जगत में प्रगतिवादी चेतना का उन्मेष इस कदर हुआ कि अन्य समीक्षा-दृष्टियों की उपेक्षा की गई। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा-पद्धति को सौन्दर्यमूलक अथवा स्वच्छन्दतावादी कहकर उनकी अवहेलना की गई। आधुनिक समीक्षा के एक कृती हस्ताक्षर, हिन्दी पाठकों को 'छायावाद' नाम की काव्य-प्रवृत्ति की सर्वप्रथम सबसे सही और प्रामाणिक पहचान देने वाले, छायावाद के विरुद्ध लगे तमाम निरर्थक आरोपों के जाल से बाहर निकालकर युग की सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने वाले आचार्य वाजपेयी ही सही अर्थों में शुक्ल जी की प्रगतिशील परम्परा के उन्नायक तथा उनकी चिन्ताओं के निर्भीक धारक रहे हैं। इसी कारण उन्हें इस सम्मान से वंचित करने हेतु प्रतिक्रियावादियों ने उन्हें प्रगति-विरोधी करार देकर जो साजिश की थी, क्रमशः उसका पर्दा हटता गया और हिन्दी समीक्षा-जगत को वाजपेयी जी की असलियत का पता चला।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नन्ददुलारे वाजपेयी का आविर्भाव नई छायावादी कविता के व्याख्याता और सिद्धान्तविद् के रूप में ऐसे समय हुआ जब इस काव्य आन्दोलन पर नाना प्रकार के दोषारोपण हो रहे थे। यहाँ तक कि तत्कालीन मूर्द्धन्य समीक्षक भी उसकी नई अन्तरवस्तु तथा अभिव्यंजना शैली के साथ अपनी मानसिक संगति नहीं बिठा पा रहे थे। उसे अनगढ़, अबूझ, अस्पष्ट, दुर्बोध्य, ऊटपटांग कहते हुए उसे अभारतीय और पश्चिम की नकल कहा जाता था। दुर्भाग्य से उस समय ऐसे विरोधियों की संख्या अधिक थी और समर्थकों की कम। ऐसे में विश्वविद्यालय के अन्दर पाठ्यक्रम में छायावादी कविता के पक्ष में चल रही लड़ाई का नेतृत्व कर रहे थे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी। जाहिर है कि इस संघर्ष के क्रम में उन्हें गुरुवर आचार्य शुक्ल समेत कई बुजुर्ग पूर्ववर्त्तियों के साथ भी सीधी टक्कर लेनी पड़ी थी। उन्होंने शुक्ल जी के बारे में यहाँ तक लिख डाला कि "आचार्य शुक्ल हिन्दी समीक्षा के बालारुण हैं, किन्तु अब दिन ढल चुका है और नये प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी साहित्य-समीक्षा कर रही है।" विश्वविद्यालय के बाहर हिन्दी के एक बृहत्तर पाठक समाज के बीच इस नई काव्य-प्रवृत्ति के बारे में फैलाये गये भ्रम और प्रवादों का उन्होंने खण्डन किया। उन्होंने न केवल छायावाद के विरोधियों की छायावाद सम्बन्धी अनर्गल व्याख्याओं का प्रतिवाद किया, बल्कि छायावादी कविता के उन अति प्रशंसकों की भावुकताभरी उक्तियों को भी आड़े हाथ लिया, जो छायावाद की व्याख्या ऐसी अनिर्वचनीय शब्दावली में कह रहे थे, मानो वह कविता न होकर कोई दैवी उपहार हो।

अपने प्रथम समीक्षा-ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी' की भूमिका में प्रेमचन्द की कतिपय प्रारम्भिक रचनाओं को लेकर वाजपेयी जी ने कई बातों पर कड़ी आलोचना की थी।

लेकिन उनका बडप्पन देखिये कि अपने तीसरे समीक्षा ग्रंथ 'नया साहित्य : नये प्रश्न' की भूमिका में अपने ही पूर्व मन्तव्य का निराकरण करते हुए स्वीकारोक्ति प्रकट करते हैं—''अपनी पहली पुस्तक में प्रेमचन्द पर लिखते हुए मैंने कई बातों की शिकायत की थी।...पर उनमें एक सबल पक्ष भी है—अत्यधिक सबल पक्ष—यह मुझे कुछ समय बाद आभासित हुआ। उनका सबल पक्ष है, भारतीय परिस्थितियाँ और विशेषकर भारतीय ग्रामों का उनका विशाल अनुभव और उससे भी बढ़कर ग्रामीण जन-समाज के प्रति उनकी अपार सहानुभूति।'' यहाँ तक कि आगे चलकर वे प्रेमचन्द को विश्व स्तर के कथाकार के रूप में मान्यता देते हैं। दरअसल, यह वाजपेयी जी की समीक्षा का प्रगतिशील सन्दर्भ है।

ठीक प्रेमचन्द—विवेचन की तरह शुक्ल जी के बारे में भी वाजपेयी जी की पैनी नजर शुक्ल जी के कई और पक्ष पर गई। तभी उन्होंने शुक्ल जी और प्रेमचन्द दोनों को ही द्विवेदीयुगीन जीवनादर्शों और साहित्यादर्शों का सर्वोच्च प्रतिनिधि माना है। वस्तुतः प्रेमचन्द की भाँति शुक्ल जी के विरोध के मूल में भी उनमें एक युव समीक्षक की उत्साहित क्रियाशीलता, युग के दो-दो प्रतिष्ठित तथा प्रखर प्रतिभाओं को चुनौती देनेवाली रोमानी साहसिकता और उसका विजय-सुख भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। एक ऊर्जसित आदर्शवाद भी उनमें है, जो महाजनों की लीक पर न चलकर सर्वथा एक नई लीक बनाई जाय और उस पर चलकर उपयुक्त शिष्यत्व साबित किया जाय। साहित्य का गम्भीर अध्ययन के दौरान वाजपेयी जी ने समय पर जो विवेचन किये हैं, वे शाश्वत एवं प्रणिधान योग्य हैं। मसलन, 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में वे कहते हैं—''साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव जीवन ही साहित्य का उपादान और विषय रहा है और रहेगा। मानव-जीवन विकासशील वस्तु है, इसलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यह साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।'' इस मोटी परिभाषा के बाद वे साहित्य रचना की बारीकियों में उतरते हैं और अन्ततः साहित्य को 'भावाश्रित रूप' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार ''काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं।'' यद्यपि साहित्य की यह समझ स्वच्छन्दतावादी समझ है, यह किसी भी प्रकार से साहित्य की प्रगतिशील समझ पर आँच नहीं आने देती, उसकी मानवीयता का, उसकी भाव-सत्ता का आख्यान करती है, साथ ही कोरे कलावाद, शब्दाड़म्बर तथा चमत्कार का विरोध करती है।

शुक्ल जी की परम्परा में वाजपेयी जी उस बिन्दु पर जुड़ते हैं, जहाँ वे साम्प्रदायिक कविता का विरोध करते हैं, जिसका लक्ष्य किसी एक धर्म या सम्प्रदाय की शिक्षाओं का प्रचार होता है। कविता वाजपेयी जी के लिए सार्वजनीन है, किसी सम्प्रदाय को शिक्षाओं तक ही

सीमित नहीं। साथ ही वे वादों, बगावतों और तरह-तरह के श्लोगानों से कविता को बाहर रखने का आग्रह करते हैं। परन्तु वाजपेयी जी दार्शनिक-राजनीतिक मतवादों से कविता को अलग रखने के कितने भी पक्षधर क्यों न हों, वे यह भी महसूस करते हैं कि आज की जिन्दगी में कविता का उससे बचा रहना भी असम्भव-सा है। इस बिन्दु पर वे सावधानी और सजगता की माँग करते हैं ताकि काव्य-विवेक को अनावश्यक क्षति न पहुँचे।

अपने समीक्षा-काल में वाजपेयी जी का मुख्य सरोकार या तो मार्क्सवाद-समाजवाद प्रेरित यथार्थवादी साहित्य-सृजन रहा है, जो भारतीय जीवन के यथार्थ अनुभवों की जमीन पर समाजवादी चेतना से जुड़ा रहा है; या फिर उनके समक्ष पश्चिम के पूँजीवादी देशों में जन्मे और पनपे दार्शनिक तथा साहित्यिक वादों के अनुकरण पर रचे गये साहित्य की बानगी आई है। फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रेरित व्यक्तिवादी पतनशील मानसिकता की अन्धी गली में भटकाने वाले नाना प्रकार के वादों और विचारधाराओं के माहौल से मुक्त स्वस्थ सामाजिक चेतना से युक्त सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने वाली रचनाशीलता का खुला समर्थन किया है। जाहिर है कि यह आचार्य वाजपेयी के चिन्तन का, उनके समीक्षा-कर्म का सबसे जाग्रत प्रगतिशील सन्दर्भ है।

मार्क्सवाद—समाजवाद—प्रेरित समाजवादी यथार्थ और मनोविज्ञान प्रेरित अन्तश्चेतनावादी यथार्थ पर वैसे तो वाजपेयी ने कई स्थलों पर लिखा है, परन्तु 'आधुनिक काव्य का अन्तरंग' विषय पर उनका अभिमत द्रष्टव्य है—''समाजवादी यथार्थवाद की मूल वस्तु है वर्ग-संघर्ष। शोषित दीन-हीनों की वर्ग चेतना का जागरण और शक्ति-संचय उस नये जमाने की कुंजी है, जब कोई शोषक न रहेगा, सब समान हो जायेंगे, सब मिलकर परिश्रम करेंगे और सब मिलकर उपभोग करेंगे। इस यथार्थवाद में दो तत्त्व हैं, जो वास्तव में गत्यात्मक जीवन के दो पक्ष हैं। एक है वह असह्य और नग्न वास्तविकता, जो परिस्थिति बनकर हमें घेरे हुए हैं, और दूसरा है, एक स्वप्न, जो साम्यवाद का साध्य है। यह एक वास्तविक जीवन-दृष्टि है जिसमें तात्कालिक यथार्थ और उसे गति और दिशा प्रदान करने वाला आकांक्षित भवितव्य; दोनों का द्वन्द्वात्मक संयोग है। साथ ही इस दृष्टिकोण की भूमि भी पूरी तरह सामाजिक है। इस मत के अनुसार, काव्य की इस गतिशील सहयोग पर आश्रित विकासमान जीवन को सृजनात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।' लेकिन आगे चलकर जब इसके व्यावहारिक रूप की बात आती है, वाजपेयी जी राजनीतिक पूर्वाग्रह तथा कट्टरता का उल्लेख करते हैं, जिसके चलते उनके शब्दों में, 'स्वस्थ तथा प्राणवान धारणा अपनी आत्मा खो बैठती है।' वैचारिक स्तर पर आचार्य वाजपेयी उसे पूरी स्वीकृति देते हैं।

समूचे हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शायद ही किसी गैर मार्क्सवादी समीक्षक ने मार्क्सवाद की मूलवर्ती विचारधारा और उससे प्रेरित यथार्थवादी कला को इतनी खुली और

आस्थापूर्ण स्वीकृति प्रदान की हो। रचनाशीलता में सीमाएँ हो सकती हैं, विचार को व्यवहार के स्तर पर लाने में त्रुटि हो सकती है; लेकिन मूलवर्ती विचार पर यह निष्कम्प आस्था वास्तव में विरल है। शायद यही वजह है कि वाजपेयी जी को हिन्दी के प्रगतिशील समीक्षकों की पंक्ति में रखा जाता है।

आचार्य वाजपेयी ने प्रयोगवाद पर कठोर आक्रमण करते हुए उन्हें नितान्त व्यक्तिवादी तथा असामाजिक जमीन पर एक विदेशी कलम के रूप में उगाया और पनपाया गया पौधा बताते हैं। प्रयोगवादियों से उनकी सलाह है कि नवीनता लाइये, पर अपनी विरासत से मुँह मत मोड़िये। अपना उत्तराधिकार न छोड़िये। खोज के लिए खोज नहीं, जीवन सम्बन्धी धारणा और साधना के लिए उद्दिष्ट सुयोग का इस्तेमाल कर आगे बढ़िये। अपने प्रति, अपनी अनुभूतियों के प्रति, काव्य के प्रति और समय, समाज के प्रति उत्तरदायित्त्व को भूलकर प्रयोग नहीं किये जा सकते।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का समूचा समीक्षा-कर्म एक जागरूक चिन्तक की मेधावी प्रतिभा तथा प्रगतिशील चिन्ता का परिणाम है। उनके चिन्तन की मूलवर्ती भूमि वृहत् सामाजिक तथा मानवीय सरकारों की भूमि है, इसी भूमि से उन्होंने साहित्य, कविता या कला का विवेचन किया है। उदान्त जीवन चेतना ही वस्तुतः वाजपेयी जी की समीक्षा की ध्रुव कसौटी है। जो साहित्य इस कसौटी पर खरा नहीं उतरा, उसे उन्होंने मान्यता नहीं दी। साहित्य प्रगतिशील सरकारों को उनके द्वारा होने वाला समर्थन, उनकी अन्तरंग छबि तथा बहिरंग व्याप्ति की उनकी सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी विवेचना, उसकी सौन्दर्य-सत्ता का उनका समर्थ उद्घाटन, उसकी जीवन तथा समाज-सापेक्षता का उनका आस्थावान कथन, साहित्य-निर्माण के मूल में निहित सामग्री, रीतिवादी मानसिकता का प्रत्याख्यान, उनका रहस्यवाद-विरोध, साम्राज्यवाद की भर्त्सना तथा पश्चिम की पतनशील चिन्ताओं का पर्दाफाश करते हुए प्रगतिशील समाजवादी दृष्टिकोण की पक्षधरता आदि ऐसी बातें हैं, जो वाजपेयी जी को आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में एक कृती व्यक्ति होने के साथ ही आचार्य शुक्ल की स्वस्थ एवं प्रगतिशील परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी बनाती है। उनकी जैसी सूक्ष्मान्वेषिणी प्रतिभा, निर्णय-पकड़ और चिन्तन-गाम्भीर्य अद्यावधि शायद ही हिन्दी के किसी समीक्षक में हो।

प्लॉट नं. – 1032/2402
प्रगति नगर, यूनिट–8
भुवनेश्वर, ओड़िशा–751003

राष्ट्रीय शिक्षा नीति : चिन्तन और चुनौतियाँ

–ब्रजरतन जोशी

शिक्षा संस्कृति में प्रवेश प्रक्रिया है। अतः हर सभ्य समाज-संस्कृति में शिक्षा का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य में पूर्व मौजूद आतंरिक शक्तियों को जागृत और परिष्कृत करने की रचनात्मक चेष्टा की जाती है। ज्ञान और कौशल विकास के ज़रिए हम उसे अपने समय का सहयात्री बनाने की भरपूर चेष्टा करते हैं।

शिक्षा नीतियों का क्रियान्वयन इसी प्रक्रिया का विस्तार है। प्रश्न उठता है कि शिक्षा नीतियों में परिवर्तन की आवश्यकता क्यों आती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि बदलते वैश्विक हालातों में नई स्थितियों का उदय होता है, नई परिस्थितियाँ सामने आती हैं और नये रास्तों का संधान करना होता है। हालांकि नवाचार, गुणवत्ता और अनुसंधान को बढ़ावा देना हर शिक्षा नीति का प्रमुख लक्ष्य रहता है। पर, साथ ही सामयिक परिदृश्य में जो ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था की आवश्यकता है उसकी पूर्ति भी इसके माध्यम से की जाती है। हम शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक स्तर पर पिछड़े नहीं, यह कोशिश भी इसी नीति के माध्यम से सम्पन्न होती है। इसी कारण कुछ अरसे बाद शिक्षा नीति पर पुनर्विचार करते हुए, आगे की राह सुगम बनाने की दिशा में कार्यशील होना होता है। अतः एक निश्चित समय के बाद व्यवस्था द्वारा शिक्षा नीति का पुनर्मूल्यांकन कर उसमें कुछ जोड़ा-घटाया जाता है।

हमारे देश की अंतिम राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में बनी और 1992 में उसमें संशोधन किया गया यानी 34 वर्षों बाद यह परिवर्तन आ रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का यह महत्त्वपूर्ण दस्तावेज चार भागों में हैं– 1. विद्यालयी शिक्षा, 2. उच्च शिक्षा, 3. व्यावसायिक, प्रौढ़, प्रौद्योगिकी, ऑनलाईन और डिजीटल शिक्षा, 4. क्रियान्वयन रणनीति। देखने वाली बात यह है कि इन बीते तीन दशकों में संचार क्रांति के कारण संपूर्ण समाज संरचना में आमूल परिवर्तन आया है। अतः इस शिक्षा नीति पर विचार करते समय यह ध्यान रखना निहायत ही आवश्यक होगा कि हम इसके पीछे काम कर रही सोच, दृष्टि और उद्देश्यों के साथ प्रबन्धन पर विचार भी करें।

सबसे पहले तो हम यह देखें कि इस शिक्षा नीति के निर्माताओं के सामने जो परिदृश्य हैं उसे वे कैसे व किस तरह देखते हैं? फिर यह जानने-समझने की गंभीर कोशिश करें कि उन परिस्थितियों और परिवेश के साथ एक संवदेनशील, विवेकवान और सार्वभौमिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने निष्कंप, निष्ठावान नागरिक तैयार करने के लिए इस नीति में क्या कार्यक्रम हैं?

कहा जा रहा है कि इस शिक्षा नीति के माध्यम से शिक्षा को ग्राउण्ड में लाने की अपूर्व पहल हो रही है। प्रश्न उठता है कि क्या यह पहल अपने आप में पहली पहल है? इसमें कहा भी गया है शिक्षार्थी को कक्षा-कक्ष से बाहर लाना इनका प्रमुख लक्ष्य भी है। ठीक है कि विद्यार्थी को बंद कमरे से निकालकर खुले आसमान में अपने परवाजों की ताकत तौलने के प्रयास का अनुकूल और उचित अवसर दिया भी जाना चाहिए। वह हो भी रहा है। पर देखने वाली बात यह है कि वह कैसे व किस विधि और किस रणनीति के तहत हो रहा है? क्या व्यापक समाज का कल्याण, क्या मानवेत्तर जीवन के प्रति संवेदनशीलता आदि के साथ दायित्व वहन करने की गुरूतर क्षमता का विकास आदि-दूसरे हिस्से इसकी प्रक्रिया में शामिल हैं भी अथवा नहीं। कहा तो यह भी जा रहा है कि परीक्षा पद्धति में परिवर्तन लाया जा रहा है। क्या इससे पूर्व शिक्षण पद्धतियों और आधारभूत संरचना का व्यापक सामाजिक संरचना के साथ कोई सहसम्बन्ध बनाने की कारगर कोशिश हुई है? उद्योग और शिक्षण संस्थाओं के साथ परस्पर सम्बन्धों के जुड़ाव को पर्याप्त महत्त्व भी दिया गया है। क्या यह सब पूर्व की बनी नीतियों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद नहीं रहा? कागज पर बनी सभी नीतियों में क्या यह सब हमेशा से ही उल्लेखित होता नहीं आया है? यह बात अलग है कि कागज पर लिखी हुई इबारतें कभी मूर्त रूप नहीं ले पायीं।

क्या इससे पूर्व 1968 में बनी पहली, 1986 में बनी दूसरी शिक्षा नीति के प्रारूप में ये चिन्ताएँ नहीं थीं? क्या कोठारी आयोग की रिपोर्ट में मातृभाषा के लिए, क्षमतावर्धन के लिए उल्लेखनीय पहल के प्रावधान नहीं थे?

यहाँ प्रश्न है कि फिर यह सब हमें बार-बार सोचने-विचारने की मेहनत क्यों करनी पड़ रही है? यहाँ प्रश्न किसी भी नीति को श्रेष्ठ या हीन साबित करने का नहीं है। प्रश्न है कि क्यों पूर्व में किए प्रयास आज तक जमीनी स्तर पर अपनी आभा नहीं बिखेर सके? हमें यह स्वीकार करने में कतई संकोच नहीं होना चाहिए कि बावजूद इसके कि हम दुनियाँ की सबसे पुरानी सभ्यताओं में अग्रणी और बड़ा लोकतंत्र होते हुए भी नीति व कानून को लेकर कोई आदर्श स्थिति दुनिया के सामने रखने में अब तक विफल ही रहे हैं। मेरी दृष्टि यहाँ किसी को दाखिल-खारिज करने की नहीं है। इस देश में कानून नीति पर इसलिए भारी पड़ता है क्योंकि उसकी पालना के लिए एक बाध्यता है। इस स्तर पर नीतियाँ संविधान के मार्गदर्शक सिद्धान्तों की तरह एक कोने में कागज के पुलिन्दों में अपना तेज खो रही होती हैं। यह हमारी समस्याओं और चिन्ताओं का मूल है, जिस पर पर्याप्त ध्यान दिए जाने की महती आवश्यकता है।

आजादी के इतने वर्षों के बाद भी आज भी हम शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े हैं। हमारी असल समस्या है कि हमारे पास वह प्रशासनिक दृढ़ता और आर्थिक सबलता नहीं है कि जो हमारे विचार को साकार और लक्ष्य को परिणाम में बदल सके।

मेरा निजी विचार यह है कि किसी भी समाज में नीति का महत्त्व उस समाज की या संस्कृति की मूल संरचना पर निर्भर करता है। मैं यह भी मानता हूँ कि जब तक हम अपनी अर्थव्यवस्था के स्वराज की ओर नहीं बढ़ेंगे, तब तक हमारी दूसरी कोशिशें उतनी कारगर या प्रभावी साबित नहीं हो पाएँगी, जितना की उन्हें होना चाहिए। क्योंकि हमने अपनी अर्थव्यवस्था के केन्द्र में जिस उदारवादी संकल्पना को अपनाया है और उस उदारवाद के नाम पर हमने अपनी देशज अर्थव्यवस्था, आधुनिकता और परम्परागत ज्ञान व कौशल की उपेक्षा की है, उसके चलते हमारे लिए यह सिरदर्दी सदैव बनी ही रहनी है। पहल तो हमें यह करनी है कि हमें अपनी परम्पराओं के केन्द्र पर लौटने की सघन ईमानदार कोशिश करनी होगी। जरा विचारें क्या हम वाकई इस हेतु ईमानदार प्रयत्न कर रहे हैं?

कागज पर विचार की इमारत को देखना सदैव ही सुन्दर अनुभव होता है और जीवंत इमारत को देखना आपके अनुभव को बदलता है। ऐसे में कागज पर आयी यह तीसरी शिक्षा नीति किसी तरह से कमजोर नहीं जान पड़ती, पर इसके सामने बहुत-सी चुनौतियाँ भी हैं। वर्तमान शिक्षा नीति की संरचना पर वैश्विक बराबरी के चलते विदेशी प्रभाव खासकर अमेरिकी पैटर्न यानी अति-केन्द्रीकरण का प्रभाव दिख रहा है जिससे बचे जाने की भरी-पूरी आवश्यकता है। दूसरे, बुनियादी ढ़ाँचे की चुनौती का सामना करने के लिए जो रणनीति बनायी गई है उसकी क्रियाविधि पर भी गौर करने की जरूरत है। क्योंकि दृष्टि और स्वायत्तता के बिना समस्याएँ जस की तस खड़ी ही रहनी हैं। 2018 की विश्व विकास रिपोर्ट के अनुसार हमारे यहाँ द लर्निंग टू रियलाइज एडयूकेशन की प्रक्रिया बड़ी बदतर है। क्या रोडमेप बनाते समय हितधारकों के आदर्श व काल्पनिक हितों के बजाय वास्तविक हितों पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है? क्या उद्योग एवं शिक्षण संस्थाओं के बीच सहजीवी संबंध हेतु परिवेश निर्माण की कोई जमीनी चेष्टा हुई या होने की अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण के लिए कोई प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है? क्या हेफा का अनुदान के बजाय कर्ज देना पूँजीवादी शिक्षा की ओर प्रस्थान नहीं है? यह सब मुद्दे सामान्य नहीं हैं, वरन विचारणीय भी हैं जो पर्याप्त चिन्तन और मनन की माँग करते हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमें राज्यों की स्वायत्तता का पूरा ध्यान, मान रखते हुए वास्तविक क्रियान्वयन की रणनीति पर भली-भाँति विचार करना होगा। मेरी निजी मान्यता तो यह है कि किसी भी लोककल्याणकारी राज्य में शिक्षा और चिकित्सा निशुल्क होनी चाहिए। इसलिए विदेशी विश्वविद्यालयों को शिक्षा में निवेश की जो पहल इस शिक्षा नीति में है, वह इस विचार पर भारी पड़ेगी। अतः जरूरत इस बात की है कि हम गाँधीजी की उस राय को उचित महत्त्व दें जिसमें उन्होंने हमें नसीहत दी है कि हमें अपनी जमीन पर मजबूती से खड़े रहना है, पर वातायन भी बन्द नहीं करने हैं।

राज्य का मूल दायित्व है कि वह शिक्षा का सांस्कृतिकरण नहीं करें बल्कि संस्कृति का शिक्षा संस्कार कर समाज रूपी वन-उपवन हरा-भरा बनाए। कोई भी बगीचा किसी एक प्रकार के फूलों से लदा हो, तो उतना अच्छा नहीं लगेगा जितना कि उसमें विविध रंगों, गंधों की क्यारियों वाला बगीचा हमारे मन को आनन्दित करता है। भारतीय संस्कृति के केन्द्र में बहुवचनीयता और बहुलतावादी दर्शन है। जो हमारी धरोहर भी है। बौद्ध दर्शन के गहन अध्येता और चिन्तक समदोंग रिनपोछे के शब्दों में कहें, तो अर्थमय जीवन के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा के लक्ष्य पर आगे बढ़ने की परम्परा से जुड़ना होगा। यहाँ हम शील यानी सम्यक नैतिकबोध को विकसित कर पाते हैं तो बड़ी उपलब्धि होगी। इसलिए हमें समग्र दृष्टि और विचार से इसे देखना है कि क्या कोई भी शिक्षा नीति या कार्यक्रम हमें एक संवेदनशील विश्वसनीय और अर्थमय जीवन के लिए समर्पित बनाने में कितनी जमीनी मदद कर रहा है।

कोरोना महामारी ने हमारी जीवनशैली और विचार के वर्तमान पैमानों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। हमें एक ऐसी शिक्षा नीति की आवश्यकता है जो शिक्षक को ऐसे ज्ञान और कौशल से दीक्षित करे जिससे की वह विद्यार्थी को पढ़ाने के दम्भ से छुटकारा पाए और विद्यार्थी को पढ़ने में उसकी रूचि का उत्तरोतर परिष्कार हो। जब हमारी पहल शिक्षार्थी को पढ़ने और समझने की होगी और साथ ही हम विद्यार्थी के बहिर्विकास के बजाय आन्तरिक विकास पर कार्य करना शुरू करेंगे, तो ही हमारी शिक्षा पद्धति और नीति की सच्ची सार्थकता साबित होगी।

यह तो विदित ही है कि शिक्षा जीवन की सारथी है। शिक्षा से विवेक समुन्नत होता है। विवेक यानी जीवन जीने की कला। अब प्रश्न उठता है कि हमारी अब तक निर्मित सभी शिक्षा नीतियों में क्या जीवन को आनंदपूर्ण जीने की कला सिखाने की समुचित कोशिश नहीं की गई थी? परिणाम सामने हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था हमें अपनी अद्वितीयता के आनंद से दूर ही नहीं वरन् जड़ों से काटती जा रही है। हमारी निजता खतरे में है। जब हमारी निजता ही खतरे में है, तो राष्ट्रीय निजता के बचे रहने का संकट तो दिन-ब-दिन गहराता ही जायेगा। राष्ट्रीय निजता की विस्मृति का लोप होते जाना हमारे लिए गंभीर चिंता का विषय है। यहाँ मैं जिस निजता की बात रख रहा हूँ उसके मानी हमारी पारम्परिक निजता है। हम उसे खोकर औपनिवेशिक प्रभाव में निरन्तर स्वयं को खोते जा रहे हैं। अब हम पाने के आनंद के बजाय खोने के, विस्मृति के आनंद में है। जो कि आने वाले समय के लिए शुभ नहीं है। हमारी परम्परा में जब निजता की बात आती है, तो उसके मानी हैं वह हर आत्म के साथ एक है। यानी वह अपने केन्द्र पर है, परिधि पर नहीं। क्योंकि यह जो केन्द्र है, वह न तो किसी एक का है और न ही किसी एक के सुफल का परिणाम है। वरन् यह सबका है, सार्वभौम है।

यहाँ निजता पर जोर देने की बात हम इसलिए भी कर रहे हैं क्योंकि निजता मौलिकता

का ही एक अहम् सोपान है। हम गौर करेंगे, तो पाएँगे कि हमारी अपनी परम्परा में जितने भी महापुरुष हुए हैं बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक से लेकर गाँधी तक सब के सब मौलिक हैं। वे किसी मत, विचार या सत्ता के अनुगामी नहीं है। क्योंकि वे अगर अनुगामी होते, तो आज वे इस तरह समादृत नहीं हो सकते थे। यह बात अलग है कि बाद में इन सबके अनुयायी मौलिकता से च्युत होने के कारण अनुकर्ता मात्र रह गए। किसी समाज, समय और संस्कृति के महापुरुषों को अनुकरण करना नहीं पड़ता। अनुकरण आप करते ही तब हैं जब आपके पास अपना कुछ नहीं होता। यानी अनुकरण उधार है, मूल नहीं। शिक्षा नीतियों का निर्माण करते समय हमारे नीति नियंताओं के लिए इस बात को स्मरण रखना परम आवश्यक है कि अनुकरण से जितना बचाया जाए, वह हमारे लिए अधिक लाभकारी होगा। अनुकरण से मुक्त होते ही हम मूल से जुड़ेंगे, जो हमारी परम प्राथमिकता है।

शिक्षा प्रक्रिया की संरचना कुछ इस तरह विन्यसत हो कि इसके माध्यम से हमारी औपनिवेशिक मानसिकता और संस्कार उतरोत्तर क्षीण हो और हम अपनी जड़ों की ओर लौटें। वर्तमान शिक्षातंत्र शिक्षार्थी को सूचनाओं, तथ्यों एवं विचारों के एक ऐसे सागर में छोड़ता है कि उसे पार करते-करते वह अपने मूल उद्देश्यों को विस्मृत कर बैठता है। जैसे हर शिल्पी अपनी शिल्प कला के माध्यम से अपनी अनूठी छाप अपने कलाकर्म पर छोड़ता है, वैसे ही हमें हर मनुष्य की अद्वितीयता, अनूठेपन को उसकी मूल चमक के साथ समाज के प्रांगण में लाना है। यांत्रिक विकास, भौतिक विकास, आदि-आदि सब जरूरी हैं, पर इन सबके ऊपर है व्यक्ति का आत्मिक विकास। अपने अन्तरतम के केन्द्र से जुड़ाव। जब तक कोई शिक्षा प्रणाली इस पर पूरे मनोयोग से काम नहीं करेगी, तब तक जिन बड़े-बड़े उद्देश्यों और लक्ष्यों का जिक्र और फिक्र हम वर्षों से करते आ रहे हैं, वे दिवास्वप्न ही रहेंगे। इसलिए ये नीतियाँ, आयोग आदि जीवन के व्यावहारिक मार्ग पर अपना दम तोड़ते नजर आते हैं।

एक विशेष बात जिस पर हमें निरन्तर सजग रहना है कि सदैव ध्यान में रखना होगा कि आँकड़ों की जादूगरी से शिक्षा और ज्ञान का विस्तार संभव ही नहीं है। इसलिए कई शिक्षाविद् सरकारी स्कूलों और एक सीमा तक निजी विद्यालयों को डमी ही मानते हैं। ऑटोमेशन के इस युग में जो शार्टकट सामने आ रहे हैं यथा- बायजू, अनएकेडमी, स्टडी अड्डा आदिशब्द आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए क्रूर मजाक हैं। इनका उदय व्यापक समाज के सामने संवदेनहीनता का भौंडा प्रदर्शन है। हमारा उद्देश्य यहाँ ऑनलाइन या डिजीटल शिक्षा का विरोध करना नहीं है वरन् उनके जरिये पिछड़े समाज और वंचित तबके को मुख्य्य धारा से दूर कर केवल अर्थोपार्जन की दिशा में आगे बढ़ने की जो रणनीति अपनाई जा रही है, उसका विरोध है। शिक्षा संवेदनशीलता का विस्तार करती है, व्यक्तित्व में गहराई लाती है। अतः हमें हमारी शिक्षा नीतियों के निर्माण में इन आधारभूत सूत्रों को ध्यान में रखना होगा कि हम अपने शिक्षार्थी को

सूचनाओं के सैलाब, सतही ज्ञान से मुक्त कर उसे ज्ञान ही स्वधर्म है कि प्रेरणा दें। ताकि वह समाज में समानता के वातावरण एवं अवसर पैदा कर सके।

अस्तु, विचार करने वाली बात यह है कि पूर्व में जो भी नीतियाँ बनीं, उनका इतिहास हमें शिक्षित करता है कि ये शिक्षा नीतियाँ केवल शिक्षानीतियाँ भर हैं, व्यवहार की नीतियाँ नहीं। इसलिए किसी भी शिक्षा नीति के मूल्यांकन करते समय देखने वाली बात यह है कि सरकारें जो नीति का प्रारूप हमारे सामने रखती हैं और जिसे लागू करती हैं उनमें कितना फर्क रहता आया है। मेरी तो मान्यता है कि अगर हम तीनों शिक्षानीतियों का तुलनात्मक अध्ययन कर और उनसे कुछ प्रेरणा लेकर शत-प्रतिशत उन्हीं में दर्शाए मार्ग का चयन करें, तो कोई शक नहीं कि जिस आदर्श समाज की संकल्पना के लिए हमारे शासन-प्रशासन सहित हम सब प्रयत्नरत हैं, वे सभी स्वप्न और लक्ष्य हमारे सामने साकार हो उठेंगे। लेकिन यह होना अत्यन्त दुरूह है, पर असंभव भी नहीं। बस जरूरत है उस संकल्प की कि हम स्वयं को बदलेंगे और जब स्वयं को बदलेंगे, तो शेष परिवर्तन स्वयंमेव ही दिखाई देने लगेंगे।

शिक्षा वह जल है जो हमारे सपनों, आदर्शों और संकल्पों की जड़ को सदैव हरा-भरा करती है। उनके पूर्ण विकास की राह बनाती है। समस्त प्रकार के अबोध को बोध में बदलती है। हमारे अनुभव, संवेदना और विवेक को पुष्ट कर अस्तित्व के साथ एकत्व और सहवर्तित्व की प्रक्रिया को अनुभव में बदलने का मार्ग प्रशस्त करती है। याद रहे कि शिक्षा हमारे जीवन के आकार और व्याकरण का मूल है। अतः हमें इस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर कोई भी नीति या विचार बनाने के साथ-साथ इस पर भी सम्यक् विचार कर लेना चाहिए कि उस विचार की क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सभी तैयारियाँ और साधन हमारे पास हैं। अगर हमारी शिक्षा नीति और उसके कार्यक्रम ऐसा कर पाने में सफल हो पाते हैं अथवा इस दिशा में अग्रसर हो रहे हैं तो यह संस्कृति के लिए शुभ संकेत है।

अक्षयलोक
राजकीय सिटी डिस्पेंसरी नं. 06 के पहले
करमीसर मार्ग, नत्थूसर दरवाजे के बाहर, बीकानेर

आखिरी सबक

–लेखक : अल्फॉन्ज़ डॉडे
अंग्रेजी से अनुवाद : नवीन कानगो

उस वक्त मुझे स्कूल के लिये देर हो रही थी और मुझे डाँट का डर भी लग रहा था। ख़ासकर इसलिये कि मिस्टर हैमेल फ्रेंच व्याकरण पर सवाल पूछने वाले थे और मैं उसका एक शब्द भी नहीं जानता था। एक पल के लिये मैने सोचा कि, कहीं भाग जाऊँ और पूरा दिन बाहर बिता दूँ। उस दिन सुनहरी खिली धूप खिली थी और जंगल में चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई दे रही थी। दूसरी ओर आरामिल के पीछे के खुले मैदान में प्रूशिया के सैनिक युद्धाभ्यास कर रहे थे। यह सब व्याकरण के पाठ से कहीं ज्यादा आर्कषक था पर पूरी ताकत से अपनी इच्छा को दबाते हुए मैनें स्कूल की ओर रुख़ किया।

टॉउन हॉल से गुज़रते हुए मैनें सूचना पटल पर लोगों की भीड़ देखी। पिछले दो सालों में सारी बुरी ख़बरें, जैसे लड़ाई में हार, नये मसौदे, कमांडिंग अफ़सर के आदेश - यहीं से प्राप्त होते रहे थे। मैनें बिना रुके सोचा - ''अब क्या बात हो सकती है?'' मुझे बेहद जल्दी में देखकर वहाँ पर मौजूद वॉचर लुहार ने, जो अपने चेले के साथ वहाँ सूचना पढ़ रहा था, पुकारा और कहा ''इतनी जल्दबाज़ी मत करो, बच्चे, तुम्हें स्कूल पहुँचकर बहुत वक्त मिलेगा।''

मुझे एहसास हुआ कि वो मेरा मज़ाक उड़ा रहा है और मैं हाँफते हुए मिस्टर हैमेल की कक्षा के बाहर बागीचे में पहुँच गया।

आमतौर पर स्कूल की शुरुआत गली तक सुनाई देने वाले कानफोड़ू सामूहिक पाठ, शोर-शराबे, मेज़ों के खुलने-बन्द होने और शिक्षक के बेंत की मेज पर खटर-पटर से होती थी। पर आज सब कुछ शांत और स्तब्ध था। मैं चुपचाप अपनी डेस्क तक पहुँचने की फ़िराक़ में था पर यक़ीनन इस दिन स्कूल में किसी रविवार की सुबह की तरह की ख़ामोशी थी।

मैनें खिड़की से देखा कि सभी सहपाठी अपनी जगह पर बैठे हैं और मिस्टर हैमेल अपने हाथ में भयंकर बेंत लिये ऊपर-नीचे चल रहे हैं। मुझे सबके सामने दरवाज़ा खोलकर दाख़िल होना पड़ा। मेरी शर्म और भय का आप अंदाज़ा लगा सकते हैं।

पर कुछ भी नहीं हुआ, अपितु मिस्टर हैमेल मुझसे बहुत दया से बोले ''प्रिय फ्रांज़, तुम अपनी जगह पर जल्दी जाओ, हम तुम्हारे बग़ैर ही शुरु करने वाले थे।''

मैं लपककर अपनी बैन्च पर बैठ गया। अभी मेरा डर से कँपकँपाना गया भी नहीं था कि मैनें देखा कि हमारे शिक्षक ने बूटेदार खूबसूरत कोट, झालरदार शर्ट, छोटी काली रेशमी टोपी, जो कि वो सिर्फ़ निरीक्षण अथवा पुरस्कार वितरण में पहनते थे, पहन रखी है। अलावा इसके, सारा स्कूल अजीब तरह से उदासी ओढ़े हुए था। पर सबसे अधिक चौंकाने वाली बात यह थी कि अक्स़र ख़ाली रहने वाली पीछे की बैंचों पर हमारी ही तरह ख़ामोश गाँव के लोग बैठे हुए थे, अपनी तिकोनी हैट पहने बूढ़ा हॉसर, भूतपूर्व महापौर, पोस्टमास्टर और अन्य कई लोग बैठे हुए थे। सभी उदास लग रहे थे और बूढ़ा हॉसर अपने घुटनों पर खोल रखी कोनों पर मुड़ी-तुड़ी पुरानी बाराखड़ी की पुस्तिका के पन्नों में अपने बड़े-बड़े चश्मों से देख रहा था।

जबकि मैं इन हालात पर विचार कर ही रहा था कि मिस्टर हैमेल अपनी कुर्सी पर बैठ गये और उसी उदास और मृदु लहज़े में, जैसे उन्होंने मुझसे बात की थी, बोले - ''मेरे बच्चों, आज मैं तुम्हें आख़िरी सबक पढ़ाने वाला हूँ। बर्लिन से जारी आदेश के तहत अब अल्सेश और लॉरेन के स्कूलों में सिर्फ जर्मन पढ़ाई जाएगी। नया शिक्षक कल पहुँच जाएगा। यह आपका आख़िरी फ़्रेंच अभ्यास है। मैं चाहता हूँ कि आप बहुत ध्यान दें।''

क्या ये शब्द मेरे लिए किसी वज्रपात की तरह न थे!

ओह, कितना दुर्भाग्यपूर्ण! तो टाऊन हॉल में उन्होंने यही सब लगा रखा था। मेरा आख़िरी फ़्रेंच सबक! क्यों? अभी तो मैं बमुश्किल लिखना सीख पाया था। अब मैं और नहीं सीख पाऊँगा! मुझे यहीं रुकना पड़ेगा फिर! ओह! मुझे अपने सबक न सीखने का कितना अफ़सोस था – जिसके बदले मैं चिड़ियों के अण्डे खोजता रहा और सार नदी में छलांग लगाता रहा। जो व्याकरण की किताबें और संतों की कहानियाँ अबतक मुझे रुकावट और बोझ लगती थीं, अचानक अब मेरे पुराने, न छोड़ सके जाने वाले दोस्तों में बदल गईं थी और मिस्टर हैमेल भी! इस विचार ने, कि वो जा रहे हैं और मैं उन्हें फिर कभी नहीं देख पाऊँगा– इसने मुझे उनकी बेंत और सनकीपन को भुला दिया था।

बेचारे मिस्टर हैमेल! तो ये सजावटी कपड़े अपने आख़िरी पाठ के समापन में पहन कर आए थे और अब मैं गाँव के बूढ़े आदमियों के कमरे में पीछे बैठे होने का सबब भी समझ चुका था। वे भी इस बात को लेकर उदास थे कि वो अक्सर स्कूल न जा सके। अपने शिक्षक उसकी चालीस साल की विश्वसनीय सेवाओं और अपने देश के प्रति, जो कि यह उनका नहीं रहा था, के प्रति उनके आभार ज्ञापित करने का तरीका था।

अभी जब मैं यह सब सोच ही रहा था कि मेरा नाम पुकारा गया है। अब मेरे पढ़ने की बारी थी/ पाठ दुहराने पढ़ने की बारी थी। क्या मैं कृदंत व्याकरण के भयावह नियम को बता सकता था। ज़ोर से साफ़ आवाज़ में, बिना ग़लती के पर शुरुआती शब्दों में ही मेरी ज़बान

फ़िसल गई और मेरी धड़कनें तेज़ हो गयीं, मैं नज़रें नीची किये हुए डेस्क पकड़े खड़ा रह गया। ''मैं तुम्हें नहीं डाटूँगा''- मैनें मिस्टर हैमेल को कहते सुना। ''छोटे फ्रांज़, तुम्हें खुद ही बुरा लगना चाहिये। देखो ऐसा है! हम रोज़ ही अपने आपसे कहते हैं- अरे; अभी बहुत समय पड़ा है, इसे मैं कल सीख लूँगा। और अब तुम देखो, हम कहाँ हैं। आह! यह अल्सेश के साथ बड़ी समस्या है; वो सीखने को कला पर मुल्तवी कर देती है। अब उन लोगों के पास यह अधिकार है कि वे तुमसे कह सकें कि तुम फ्रेंच होने का दिखावा करते हो और अपनी ही भाषा बोल और लिख नहीं सकते। पर तुम अकेले ही दोषी नहीं हो, प्यारे फ्रांज़! हम सभी को इस अफ़सोस से निपटना होगा।''

'तुम्हारे माता-पिता, अभिभावक भी तुम्हारे सीखने के प्रति गंभीर नहीं थे, वे चाहते थे कि तुम उनके साथ खेत या मिल पर काम करो ताकि कुछ और पैसे मिल सकें। और मैं? मुझ पर भी तो इल्ज़ाम आना चाहिये। गर कि मैनें तुम्हें पाठ पढ़ने कि बजाए अक्सर अपने फूल-पौधों पर पानी डालने न भेजा होता। और क्या मैने जब भी मछली पकड़ने जाना चाहा तुम्हें छुट्टी नहीं दे दी?'

फिर एक बात से दूसरी बात तक मिस्टर हैमेल फ्रेंच भाषा का बखान करते रहे कि वह दुनिया कि सबसे सुन्दर भाषा है— सबसे साफ़, सबसे तार्किक; और यह कि हमें उसका रक्षण करना चाहिये, उसे बिना कभी बिसरे। वह यों कि जब किन्हीं लोगों को गुलाम बनाया जाता है तो जब तक वो अपनी भाषा को पकड़े रखते हैं तब तक उनके हाथ में जेल की चाभी रहती है। फिर उन्होंनें व्याकरण की किताब से हमें एक पाठ सुनाया। मैं आश्चर्य चकित था कि यह सबक मुझे कितना स्पष्ट था। वो जो कह रहे थे वह बहुत आसान लग रहा था, बहुत आसान! मुझे लगता है कि मैनें कभी इतने ध्यान से उन्हें सुना ही नहीं और न ही उन्होंने कभी इतनी व्यवस्थित ढंग से हमें समझाया। ऐसा लगता था कि बेचारे मिस्टर हैमेल हमें अपना सारा ज्ञान जाने से पहले दे जाना चाहते थे— और एक ही झटके में हमारे मस्तिष्क में दर्ज कराना चाहते थे।

व्याकरण के बाद, हमने एक लेखन का सबक सीखा! उस दिन मिस्टर हैमेल के पास हमारे लिये सुन्दर गोल अक्षरों में लिखी कापियाँ थीं- फ्रांस, अल्सेश, फ्रांस, अल्सेश।

ऐसा लग रहा था मानो स्कूल कक्ष में चारों तरफ छोटे-छोटे झंडे फैल गए हों। छत की रॉड से हमारी डेस्क पर लटके हुए। आपको देखना चाहिये था कि कैसे सब लिखने में व्यस्त हो गए और कितना सन्नाटा था। सिर्फ़ क़ाग़जों पर क़लम के चलने की आवाज़ें आ रहीं थीं। बीच में कुछ बीटल्स कक्ष में उड़ आए, मगर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। सबसे छोटे बच्चों ने भी नहीं— वे जो कि मछली के काँटे जैसे वर्णाक्षर को लिखने की कोशिश कर रहे थे— जैसे

वही फ्रेंच हो। छत पर कुछ कबूतर धीरे-धीरे गुटरगूँ कर रहे थे— और मैनें सोचा कि क्या वे कबूतरों को भी जर्मन में गाने को कहेंगे?

मैनें जब-जब ऊपर देखा तो मैनें पाया कि मिस्टर हैमेल कभी एक जगह तो कभी दूसरी जगह को बड़े ध्यान से देख रहे हैं— मानों वो अपने दिमाग में इस स्कूल कक्ष को जज़्ब कर लेना चाहते हों। चाहना! चालीस सालों से वे खिड़की के बाहर इस बाग़ीचे और उसके सामने कक्षा के साथ इसी जगह पर थे। बिल्कुल इसी तरह सिर्फ़ डेस्क और बेंच घिस-घिस कर चिकने हो गये थे; बाग़ीचे में अखरोट के पेड़ बड़े हो गये थे और उनकी लगाई हुई हॉपवाइन की लता खिड़कियों से लिपटते हुए छत तक पहुँच गई थी। यह सब छोड़ते हुए उन बेचारे का दिल कैसा टूटा होगा; जबकि वो ऊपरी कमरे में अपनी बहन के चलने और ट्रंक में पैकिंग करने की आवाज़ सुन पा रहे थे! उनका कल ही देश छोड़ना ज़रूरी था।

पर आज उनमें सारे अध्यायों को आख़िर तक सुनने का साहस था। लेखन के पश्चात् हमें इतिहास का अध्याय पढ़ना था और तभी कुछ शिशुओं की आवाज़ आई ...... बा, बे, बी, बो, बू। वहीं पीछे बूढ़ा हॉसर चश्मा लगाए बाराखड़ी की पुस्तिका को दोनों हाथों से थामे हुए उन्हीं के साथ कुछ शब्दों का उच्चारण कर रहा था। आप देख सकते थे कि वो भी रो रहा था; उसकी आवाज़ भावनाओं से लरज़ रही थी, और उसे सुनना इतना मज़ेदार था कि हम रोते हुए हँसना चाहते थे।

आह! कितने अच्छे से याद है मुझे, वह आख़िरी सबक!

यकायक चर्च की घड़ी ने बारह बजाए और फिर एंजेलस प्रार्थना शुरु हो गई। ठीक उसी वक़्त युद्धाभ्यास से लौटते हुए प्रूशियन सैनिकों की तुरही की आवाज़ हमारी खिड़कियों के पीछे सुनाई देती थी। मॉशियर हैमेल का चेहरा पीला पड़ चुका था और वे कुर्सी पर निढाल बैठे थे— मुझे वो इतने ऊँचे कभी नहीं लगे थे।

''मेरे दोस्तों' मैं,,, मैं,...... कुछ कहने की कोशिश में उनका गला रुँध गया। वे और नहीं बोल पाये। फिर वे ब्लैकबोर्ड की तरफ़ घूमे, उन्होंने चॉक का एक टुकड़ा उठाया— और अपनी ताक़त से जितना बड़ा वो लिख सकते थे, लिखा 'विवे ला फ्रांस' (फ्रांस जिन्दाबाद़)

फिर वो रुक गये और उन्होंने अपना सर दीवार पर टिका दिया, और बिना कोई शब्द बोले, अपने हाथों के इशारों से कहा-

''स्कूल समाप्त हुआ- आप जा सकते हैं''

....

'आखिरी सबक' कहानी (1870-71) के समय की है जब फ्रांस को बिस्मार्क की अगुआई में प्रूशिया (तत्कालीन जर्मनी, पौलैंड और ऑस्ट्रिया समूह) ने युद्ध में हरा दिया था।

इस कहानी में फ्रांस के अल्सेश और लॉरेन जिले प्रूशिया के अधिकार में आ गये हैं। अल्फॉज डॉडे (1840-1897) एक फ्रेंच नॉवेलिस्ट एवं कथाकार हैं। इस कहानी में वह शत्रु के आधिपत्य के स्कूली छात्र, गाँव के लोगों एवं उनके भाषा-प्रेम पर प्रभाव का मार्मिक वर्णन करते हैं। ग़ौरतलब है कि '''गुलामी के दौर में जब तक हम अपनी भाषा को पकड़े रखते हैं तब तक हमारे हाथ में जेल की चाभी होती है।''

प्रोफेसर
सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

शिकागो विश्व धर्म संसद और वीरचंद्र राघव जी गांधी

–अभय सिंघई

पश्चिमी जगत को सदियों से एशियाई सभ्यता, संस्कृति, और आध्यात्मिक विचार- धाराओं को जानने की तीव्र जिज्ञासा रही है। वर्ष 1890 में इन जिज्ञासाओं की पूर्ति के उद्देश्य से तत्कालीन प्रतिष्ठित अमेरिकी विद्वान चार्ल्स केरोल बोनी ने विज्ञान, कला, धर्म, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, तथा राजनीति शास्त्र आदि विषयों पर विश्व संसद आयोजित करने का संकल्प लिया एवं तीन वर्षों के कठिन परिश्रम एवं सद् प्रयासों के प्रतिफल स्वरूप विभिन्न विषयों पर इन विश्व संसदों की शृंखला को मई 1893 से अक्टूबर 1893 तक आयोजित करवाया।

इस शृंखला का सबसे महत्त्वपूर्ण सत्र विश्व धर्म संसद रहा जो 11 सितंबर 1893 को शिकागो शहर में उद्घाटित होकर 27 सितंबर 1893 तक चला।

अपनी व्यापकता, उपयोगिता, प्रामाणिकता तथा गम्भीरता के कारण यह आयोजन विश्व इतिहास में प्रथम एवं अभूतपूर्व घटना थी, जिसने विभिन्न धर्मों के विद्वानों में ज्ञान व विचारों के आदान -प्रदान तथा परस्पर संवाद व समझ के विकास एवं सुखद वातावरण का सूत्रपात किया। इस धर्म संसद के पूर्व, पश्चिमी जगत में भारतीय मूल के धर्मो के सम्बंध में जो भी धारणाएँ व्याप्त थी, वे भारत से लौटने वाले ईसाई पादरियों द्वारा पूर्वाग्रहों के आधार पर प्रकट प्रतिक्रियायों पर आधारित थीं। तब वहाँ हिन्दू समाज की छवि ढोंग, पाखण्ड, कुरीतियों, व्यभिचार तथा शोषण पर आधारित समाज की बनी थी। जैन धर्म को तो बौद्ध धर्म की शाखा समझा जाता था।

इस धर्म संसद में भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तुत एवम् पठित निबन्धों ने इन धारणाओं को ध्वस्त किया। भारत से आमंत्रित जिन प्रमुख विद्वानों ने इसमें भाग लिया वे थे– श्रीमती एनी वेसेन्ट (थिओसोफिकल सोसाइटी), सर्वश्री प्रतापचन्द्र मजूमदार (ब्रह्म समाज) एवं वीरचन्द्र राघव जी गांधी (जैन धर्म)। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रतिनिधि की हैसियत से इसमें स्वामी विवेकानंद ने भी भाग लिया, जिन्हें भारत से हिन्दू प्रतिनिधित्व हेतु आमंत्रित संगठन द्वारा नामांकित न किये जाने के तकनीकी कारणों से हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने की अनुमति नहीं मिल सकी थी। अंतिम क्षणों में व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में अनुमति मिलने के कारण उन्होंने मौखिक रूप से ही अपने विचार रखे। शिकागो के इस विश्व धर्म संसद में स्वामी विवेकानंद का सम्बोधन आज भी हर एक भारतीय के दिलो-दिमाग मे रचा-बसा हुआ है। लेकिन सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद के साथ ही धर्म संसद में जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लेने वाले वीरचंद्र राघव जी गांधी को विस्मृत कर दिया गया।

1893 में आयोजित विश्व धर्म संसद हेतु जैन प्रतिनिधि के रूप में जब जैन धर्म गुरू श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री विजयानन्द जी सूरी (आत्माराम स्वामी) को निमंत्रण प्राप्त हुआ तो उन्होंने इस निमन्त्रण को जैन एसोशिएसन के पास विचारार्थ भेजा, कारण जैन साधुओं को मर्यादा के कारण समुद्र पार विदेश यात्रा और वाहन प्रयोग का निषेध था। जैन एसोशिएसन ने इस हेतु 29 वर्षीय वीरचंद्र राघव जी गांधी का चयन किया। चयनोपरांत वे छह माह तक आचार्यश्री तथा उनके शिष्य श्री बल्लभ सूरी जी की सेवा में अमृतसर में रहे जहाँ उन्होंने जैन-धर्म दर्शन का विशेष अभ्यास किया। विदेश जाते समय आचार्यश्री ने उन्हें तीन नियमों के पालन का व्रत दिलाया- 1. विदेश यात्रा में ब्रह्मचर्य का पालन 2. स्वदेशी वेशभूषा तथा 3. शाकाहारी भोजन।

इन नियमों का उन्होंने अक्षरशः पालन किया जिसका जिक्र स्वामी विवेकानन्द ने जूनागढ़ के दीवान हरिदास देसाई को लिखे एक पत्र में किया है।

विश्व धर्म संसद में श्री वीरचंद्र गांधी का मुख्य भाषण 25 सितंबर, 1893 को हुआ। उन्होंने बताया जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है इसका आचार-शास्त्र बौद्ध धर्म के समान अवश्य है किंतु आध्यात्मिक तत्त्वों की दृष्टि से यह उससे भिन्न है। उन्होंने अपने व्याख्यान में जैन धर्म के मौलिक सिद्धांतों और इसके तत्त्व ज्ञान, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह की परिभाषा से जैन दर्शन के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डाला तथा जैन साधुओं की जीवन-चर्या और पम्पराओं से श्रोताओं को परिचित कराया। सम्मेलन में वह जैन प्रतिनिधि अवश्य थे परंतु वस्तुतः वे सारे देश के प्रतिनिधि बन गए थे, जब भी किसी वक्ता द्वारा भारतीय सभ्यता, संस्कृति अथवा रीति रिवाज की अनुचित आलोचना की गई उन्होंने उसका युक्त-युक्त खंडन किया। अमेरिका में आपके व्याख्यान इतने पसन्द किये गये कि उनसे और व्याख्यान देने के लिए अमेरिका में ठहरने का निवेदन किया गया। वे दो वर्षों तक अमेरिका में रहे इस दौरान उन्होंने जैन धर्म, भारत और भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में व्याप्त अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया। अमेरिका के प्रतिष्ठित अखबारों में इन व्याख्यानों के अंश तथा चित्र प्रकाशित किये गए। आपने अमेरिका और यूरोप के विभिन्न नगरों में लगभग 535 व्याख्यान दिए।

भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक वैभव की अस्मिता के चारों ओर बुने जा रहे विदेशी शासकों एवं धर्म प्रचारकों के भ्रम जाल को वर्षों तक यूरोप के अनेक देशों में घूम-घूम, अपने अकाट्य तर्कों तथा प्रमाणिक विचारों से काट कर खंड-खंड कर देने वाले इस युवक का जन्म गुजरात राज्य के भावनगर के महुवा में 25 अगस्त, 1864 को हुआ था।

इनके पिता राघव तेजपाल जी गांधी महुवा नगर के प्रतिष्ठित नगर सेठ थे। बचपन से ही मेधावी वीरचन्द्र ने सम्पूर्ण राज्य में प्रथम स्थान ले मैट्रिक की परीक्षा पास की थी। आप का विवाह जीवी बेन के साथ वर्ष 1879 में हुआ। आपने बम्बई के एलिफिंस्टन कॉलेज से बीए ऑनर्स किया। वर्ष 1885 में जैन संघ के सचिव नियुक्त होते ही आपने सामाजिक कार्यो में रुचि लेना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने जैन तीर्थ सम्मेद- शिखर में खोले गए एक कत्ल-खाने पर रोक लगवाने हेतु कलकत्ता

में छह माह रुक कर बंगाली भाषा सीखी ताकि बंगाली में पैरवी कर सकें परिणामतः न्यायालय से वांछित आदेश प्राप्त करने में सफल हुए। इसी तरह पालीताना तीर्थ के दर्शन पर लगने वाले व्यक्तिगत तीर्थ यात्रा-कर को भी माफ करवाया।

वे लंदन में कानून की सर्वोच्च डिग्री बार-एट-ला उत्तीर्ण कर बैरिस्टर बने। आप 14 भाषाओं के ज्ञाता तथा अनेक धर्म-ग्रंथो के विद्वान थे।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी वीरचन्द्र का कहना था कि सिर्फ प्राकृत और संस्कृत भाषा का ज्ञान हो जाने मात्र से धर्म,दर्शन और संस्कृति को समग्र रूप में नहीं समझा जा सकता है। इतिहास,परंपरा और अन्य बातों का ज्ञान भी आबश्यक है।

अक्टूबर 1893 को शिकागो में आयोजित विश्व अचल संपत्ति सम्मेलन में भी आपने भाग लिया था और भारत मे अचल संपत्ति कानून विषय पर प्रभावी व्याख्यान दिया। वर्ष 1896 में अमेरिका से फिर निमन्त्रण प्राप्त होने पर जीव दया, शाकाहार और नारी उत्थान को समर्पित वीरचन्द्र का पुनः अमेरिका जाना हुआ इस दौरान आपने भारत के अकाल पीड़ितों की सहायतार्थ अमेरिकी नागरिकों से 40000 रु. तथा एक समुद्री जहाज भर अनाज एकत्रित किया और इसे भारत भिजवाया। भारतीय समाज एवं संस्कृति की रक्षा हेतु किये गए उल्लेखनीय कार्यो के कारण आपको अनेक संस्थाओं ने सम्मानित किया। वर्ष 1898 में जस्टिस महादेव रानाडे की अध्यक्षता में श्री वीरचन्द्र राघव गांधी का विशेष अभिनन्दन भी किया गया। अक्टूबर 1899 में अमेरिका में आयोजित तीसरे अंतरराष्ट्रीय वाणिज्यिक सम्मेलन में भाग लेने वाले वे अकेले भारतीय थे। इस अवसर पर उन्होंने 'अमेरिका और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध' विषय पर विस्तृत व्याख्यान दिया।

जिस प्रकार विवेकानन्द से भगिनी निवेदिता प्रभावित हुईं, उसी प्रकार वीरचन्द्र गांधी से प्रभावित हो श्रीमती होवार्ड ने पूर्ण शाकाहार और जैन जीवन शैली अपना ली थी। शिकागो में वीरचन्द्र द्वारा भारतीय महिलाओं की शिक्षा के लिए स्थापित संस्था की वह सचिव बनीं। इस संस्था के सहयोग के कारण ही अनेक भारतीय महिलाओं को अमेरिका में उच्च शिक्षा के अवसर मिलने सम्भव हो सके। अमेरिका में वीरचन्द्र जी ने 'द गांधी फिलोसोफिकल सोसाइटी', 'द स्कूल ऑफ ओरिएण्टल फिलोसोफी' और 'द सोसाइटी फ़ॉर द एजुकेशन ऑफ वीमेन ऑफ इंडिया' जैसी संस्थाओं की स्थापना की।

स्वामी विवेकानन्द के अमेरिकी प्रवास के मित्र तथा महात्मा गांधी के इस सहयोगी मित्र का निधन 37 वर्ष की अल्प आयु में 7 अगस्त 1901 को बम्बई में हुआ। भारत सरकार द्वारा इस महापुरुष की स्मृति में पाँच रुपये मूल्य का एक बहुरंगी डाक टिकट 8 नवंबर, 2009 को जारी किया गया।

प्रोफेसर एवं पूर्व अधिष्ठाता
अभियांत्रिकी एवं तकनीकी अध्ययनशाला
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

कुछ ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के बारे में

1. नागरी का टाइप सबसे पहले यूरोप में बना। सन् 1716 में एमस्टरडम में प्रकाशित *चाईना इलेस्ट्रेता* पुस्तक में नागरी के कुछ अक्षर पहली बार छापे गए।
2. हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र 'उदंत मार्तण्ड' 30 मई, 1826 को कलकत्ता से निकला जो एक साल छः महीने चलकर 11 दिसम्बर, 1827 को बन्द हो गया।
3. भारत में पहली बार बंगाल में जान गिलक्राइस्ट ने 1796 ई. में देवनागरी लिपि में अमीर खुसरो की एक मुकरी प्रकाशित की तथा हिन्दी में बाइबिल प्रथम बार चार्ल्स विल्किन्स और पंचानन कर्मकार ने हुगली और श्री रामपुर में 18 वीं शताब्दी में छापा।
4. हिन्दी प्रदेशों से छपने वाला हिन्दी का पहला अखबार 'बनारस अखबार' सन् 1845 में काशी से छपा था, इसका प्रकाशन राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने शुरू किया था। इसके संपादक पण्डित गोविन्द रघुनाथ धंते थे। इस अखबार की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी तथा लिपि देवनागरी थी।
5. हिन्दी का प्रथम व्याकरण 'डच' भाषा में हालैण्ड निवासी श्री जानजेशुआ केटेलर ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' शीर्षक से सन् 1685 में लिखा था।
6. भारत में पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन नागपुर में 10 से 14 जनवरी, 1975 को सम्पन्न हुआ।
7. हिन्दी भाषी क्षेत्र से निकलने वाला पहला हिन्दी दैनिक 'हिन्दोस्तान' है जो सन् 1885 में प्रतापगढ़ कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह ने निकाला और इसके सम्पादक पण्डित मदन मोहन मालवीय थे।
8. पहली बार दृष्टिहीनों के लिए हिन्दी ब्रेल आशुलिपि जुलाई, 1981 में दृष्टिबाधिता राष्ट्रीय संस्थान, देहरादून ने तैयार की और उसे ब्रेल विशषज्ञों तथा भाषाविदों द्वारा स्वीकृति दी गई।

परिशिष्ट : 2

कुछ चित्र : कुछ यादें

भारतीय भाषा उत्सव